

Brown Book

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182033

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP -23 -4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H81.092** Accession **G.H 363**

Author **0567**
आ. वृ. प्रकाश.

Title **सुकुम् प्रमा: सुक परिचय.**
194

This book should be returned on or before the date
last marked below.

प्रभा : एक परिचय

लेखक

श्री० ओ३म्प्रकाश

एम० ए०, एल-एल० बी०, एम० आर० ए० एस०
रिसर्च स्कॉलर, आगरा कॉलेज।

प्रकाशक

श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी

तथा

आगरा बुक स्टोर,

अजमेर, बनारस, मेरठ, लखनऊ

मूल्य १।।७

दो शब्द

कालेज की उच्च कक्षाओं के लिए गतवर्ष मैंने जो पुस्तकें लिखीं । उनको विद्यार्थियों ने इतना अधिक अपनाया कि केवल दस महीने ही दो पुस्तकों के दूसरे संस्करण की आवश्यकता का अनुभव नि लगा । 'पुस्तकों की सफलता से प्रेरित होकर ही मैं इस वर्ष छ नई पुस्तकें उपस्थित कर रहा हूँ आशा है ये भी प्रेमी पाठकों के नोरंजन के साथ-साथ उन्हें परीक्षा में भी यथासंभव सहायता गीं ।

प्रस्तुत पुस्तक को लिखते समय केवल छात्रों के हित का ही गान रखा गया है । इसीलिए केवल आलोचना समझकर पढ़ने वाले ाठकों को अधिक संतोष न हो तो भी कोई आश्चर्य की बात नहीं । ात्रों के लाभार्थ पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने के लिए निम्नलिखित ातों का विशेष ध्यान रखा गया है :—

(१) बी० ए० की परीक्षा को दृष्टिकोण में रखकर आलोचना लेखी गई है । प्रायः जितने आलोचनात्मक प्रश्न पूछे जा सकते हैं यथासंभव—पुस्तक के आकार को देखते हुए—पूर्ण उत्तर लिखा गया है ।

(२) बी० ए० तथा एम० ए० की परीक्षाओं में जो अंश व्याख्या ० लिए रखे गये हैं या पूछे जा सकते हैं । उनकी यथानियम व्याख्या ार दी गई है ।

(३) जहाँ तक संभव हो सका है प्रत्येक कठिन शब्द, अप्रचलित अलंकार तथा गुण-दोष का अर्थ कोष्टक के भीतर लिख दिया है ।

(४) आलोचना में काव्य के उद्धरण यथासंभव प्रस्तुत संकलन से ही रखे गये हैं ।

(५) स्थान-स्थान पर उन पुस्तकों के नाम भी दे दिये गये हैं । जिनसे प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में सहायता ली गई है, जिससे कि अधिक जानने की इच्छा करने वाला पाठक उन पुस्तकों को स्वयं भी पढ़ सके ।

(६) पुस्तक के अन्त में आगरा विश्वविद्यालय के बी० ए० तथा एम० ए० परीक्षाओं के तुलसी विषयक प्रश्न भी रख दिये गये हैं और उनके उत्तरों का संकेत अध्यायों की ओर कर दिया गया है ।

(७) लेखक को सर्वथा इस बात का ध्यान रहा है कि पाठक इण्टरमीजिएट परीक्षा में उत्तीर्ण होकर आ रहा है और उसे अपनी भित्ति हट्ट करने के लिए छोटी-छोटी बातों को भली भाँति जानने की आवश्यकता है ।

पाठकों के लिए एक बात और कहनी है कि पदों या छंदों की व्याख्या करते समय उनकी सुविधा के लिए अलग-अलग शीर्षक (शब्दार्थ, प्रसंग, अर्थ आदि) हमने दे दिये हैं, किन्तु परीक्षा में वे इन शीर्षकों को न लिखें केवल अलग-अलग परिच्छेदों द्वारा विभाजन कर दें । हाँ ! अलंकारों के शीर्षक अवश्यक दे देने चाहिए ।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में मुझे अपने प्रिय मित्र श्राधु, धूर्जटे प्रसादजी बागची, एम० ए०, एल-एल० बी०, से अनेक विषयों पर अमूल्य सम्मति मिली है, जिसके लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ ।

अन्त में हम पाठकों को विश्वास दिलाते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए जो सुझाव वे हमारे पास भेजेंगे, उनको हम सहर्ष तथा सधन्यवाद स्वीकार करेंगे और भविष्य में उनसे लाभ उठाया जावेगा ।

विषय-सूची

			पृष्ठ
जीवन-चरित्र			१
रचनाएँ			७
(क) रामचरित मानस			८
(ख) कवितावली			६
(ग) गीतावली			१२
(घ) दोहावली			१३
(ङ) कृष्ण गीतावली			१३
(च) रामललानहछू			१४
(छ) वरबै रामायण			१४
(ज) वैराग्यसंदीपिनी			१४
(झ) पार्वती-मंगल			१५
(ञ) जानकी मंगल			
(ट) विनय-पत्रिका			१५
समन्वय			१६
(क) साहित्यिक समन्वय			२१
(i) भाषा			२२
(ii) शैलियाँ			२३
(ख) धार्मिक समन्वय			२७
(ग) सामाजिक समन्वय			३३
तुलसी तथा अन्य कवि			३५
(क) तुलसी और सूर			३५
(ख) तुलसी और जायसी			४६

(ग) तुलसी और केशव		
(घ) तुलसी और गुप्तजी		
(५) साहित्यिक समालोचना		
(प्रस्तुत संकलन के विषय में)		५७
चातक का प्रेम		५८
भाषा		६०
अलंकार		६६
वर्णन		७१
मुक्तककाव्य		७५
(६) टीका		
(क) विनय-पत्रिका		७८
(ख) गीतावली		८६
(ग) कवितावली		१००
(घ) दोहावली		१०८
(ङ) बरवै रामायण		१
(७) संभाव्य प्रश्न		

१—जीवन-चरित्र

संस्कृत साहित्य में यह यथा चली आती थी कि ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ

**अंतः साक्ष्य का
अभाव**

सम्मुख रखता था, उसमें वह अपने विषय में कुछ न कहता था, संस्कृत के अधिकतर ग्रन्थों में कवियों ने अपने विषय में मौन रहने की इसी

पाटी को ही अपनाया है। पहिले दिनों में अवश्य कुछ कवि संक्षेप में नी श्रौर संकेत करने लगे थे, जैसे बाण, जयदेव तथा पंडितराज जगन्नाथ किया है; बाण ने तो अपने “हर्षचरित” की भूमिका में अपने कुल का अपना पूरा परिचय दिया है; जयदेव ने भी अपने “गीत गोविन्दम्” २ छंदों में थोड़ा-सा अपनी श्रौर संकेत कर ही दिया है। मझात्मा तुलसीदास भी अपने ग्रन्थरत्न “रामचरित मानस” में तो साधारण मानवों की मान कहने का प्रण ही कर चुके थे (कीन्हें प्राकृत-जन गुन-गाना । धुनि गिरा लागि पछिताना ॥) क्योंकि उनका उद्देश्य तो भगवद् कीर्तन था, अस्तु, उस ग्रन्थ में हमें कवि के विषय में कोई वनचरित सम्बन्धी सामग्री नहीं मिलती। तुलसीदास के दूसरे ग्रन्थों में अवश्य ही उनके व्यक्तिगत जीवन तथा उस समय की दशा का थोड़ा-सा संकेत मिलता है, किन्तु वह उस श्रेणी का कभी नहीं है जिस श्रेणी का आत्म कीर्तन रीतिकाल के राजाओं के आश्रय में रहने वाले खुशामदी वियों ने अपने आवे से अधिक ग्रन्थों में किया है।

सब से पहिले गोस्वामी तुलसीदासजी के जन्मकाल पर विचार करना चाहिए। पंडित रामगुलाम द्विवेदी, डाक्टर प्रियर्सन तथा श्री० मिश्रबन्धु

जन्मकाल

गोस्वामीजी का जन्म १५८६ संवत् में मानते हैं; “शिवसिंह मरोज” में संवत् १५८१ माना जा है; कुछ लोग सं० १५५४ मानते हैं। जो हो हमें विवाद में न पड़कर

यह मान लेना चाहिए कि गोस्वामीजी का जन्म १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ ।

जितना विवाद तुलसीदासजी के जन्मकाल के विषय में है उससे अधिक आपके निवास स्थान के विषय में है । राजापुर (प्रांत बाँदा) सो-

जन्म स्थान

(शूकर क्षेत्र, प्रान्त एटा) हाजीपुर (चित्रकूट के समीप) आदि स्थानों को यह गौरव दिया जाता है । अभी तक की खोज के अनुसार राजापुर ही महात्मा तुलसीदास का जन्म स्थान ठहरता है । वहाँ आपकी कुटी और उनके बनवाये हुए कई विशाल मंदिर आज तक पाये जाते हैं । स्व० पं० रामचन्द्र तथा स्व० डा० श्यामसुन्दरदास ने, पं० रामनरेश त्रिपाठी की शूकर क्षेत्र वाली (देखिए—“मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सुकर खेत”—मानस) इष्ट को स्वीकार करते हुए, राजापुर को ही गोस्वामीजी का जन्म स्थान माना है ।

यह प्रसिद्ध है कि गोस्वामीजी के पिता का नाम आत्माराम दूबे तथा माता का नाम श्रीमती हुलसी था । पिता के नाम का तो कोई संकेत हमें

माता-पिता

आपके ग्रन्थों में नहीं मिलता; माता के नाम का संकेत “हुलसी” शब्द के श्लेषार्थ द्वारा बतलाया जाता है; मानस में अनेक बार इस शब्द का प्रयोग इष्ट ओग संकेत करता है ऐसा विद्वानों का मत है (देखिए—“रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी । तुलसीदास हित हिय हुलसी सी ”) यह प्रसिद्ध है कि एक दिन तुलसीदासजी के पास एक निर्धन ब्राह्मण आया और अपनी कन्या के विवाहार्थ उसने आप से कुछ धन की इच्छा प्रकट की; गोस्वामीजी ने एक कागज पर दोहाई लिखकर उसे रहीम के पास भेज दिया :—

“सुरतिय नरतिय नागतिय, अस चाहत सब कोय ।”

कहते हैं कि खानखाना ने उम ब्राह्मण को धन दिया और यह दोहा इस प्रकार पूरा करके गोस्वामीजी के पास लौटा दिया :—

“गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय ।”

इस कथा से गोस्वामीजी की माता का नाम “हुलसी” था यह भी

विदित होता है और तुलसी तथा रहीम एक ही समय में थे तथा दोनों में मित्रता थी, यह भी संकेत मिलता है।

यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि गोस्वामी जी का जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था। उनके ग्रन्थों में भी इसका संकेत मिलता है:—

जाति

“दियो सुकुल जन्म शरीर सुन्दर हेतु जो फल
चारि को” “जायो कुल मंगन”

किन्तु कोई इनको कान्यकुब्ज और कोई इनको सग्यूरी ब्राह्मण मानता है, कह नहीं सकते कि उपर्युक्त उदाहरण में “सुकुल” शब्द का कितना महत्व है।

तुलसी की कविता में स्थान-स्थान पर यह संकेत मिलता है कि बालक-पन में उनको माता-पिता का प्रेम प्राप्त न हो सका था; या तो माता-पिता ने इनको त्याग दिया या वे स्वयं इस संसार में न रहे।

शैशव

मातु-पिता जग जाय तज्यौ,

विधि हू न लिखी कछु भाल भजाई।”

(कवित्त रामायण)

“जनक जननि तज्यो जनमि,

करम बिनु विधि सिरज्यौ अब डेरे।”

(विनयपत्रिका)

“जायो कुल मंगन बधायो न बजायो मुनि,

भयो परताप पाप जननी जनक को।”

प्रसिद्ध है कि गोस्वामी जी का जन्म अभुक्तमूल नक्षत्र में हुआ था, अतः पौराणिक मतानुसार बालक का जन्म अशुभ मानकर माता पिता ने इनको त्याग दिया था और इनकी बाल्यावस्था बड़ी ही दीनता में बीती:—

“बारे ते ललात बिलखात द्वार-द्वार दीन,

जानत हौँ चारि फल चारि ही जनक को।”

(कवित्त रामायण)

यह भी हो सकता है कि माता-पिता का इनके बचपन में ही स्वर्गवास हो गया हो।

किन्तु भाग्य बड़ा प्रबल है। इस परित्यक्त को एक महात्मा ने

शिक्षा

अपने पास रख लिया और रामायण की कथा सुनाई, तथा नाना विद्याओं, वेद-शास्त्रों को इनको पूरी शिक्षा दी। इस घटना का संकेत तुलसी के ग्रन्थों में भी है:—

“बन्दी गुरु-पद-कज, कृपासिन्धु नररूप हरि ।”

(बालकाण्ड)

“मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सु सुकरखेत ।

समुझी नहि तस बालपन, तब अति रह्यौ अचेत ॥”

(रामचरित मानस)

इससे यह भी ज्ञात होता है कि तुलसीदास जी के गुरु कोई महात्मा “नरहरि दाम” जी हुये थे। गुरु ने इनका नाम “राम बोला” ही रखा था, पीछे पढ़ लिख कर ये तुलसीदास के नाम से प्रसिद्ध हुये:—

“राम को गुलाम नाम, रामबोला राख्यौ राम ।”

(विनय पत्रिका)

“साहिव सुजान जिन स्वान हूँ को पक्ष कियो,

रामबोला नाम हौँ गुलाम रामसाह को ।”

(कवित्त रामायण)

जब तुलसीदास सर्वशास्त्र सम्पन्न हो गये तब पता लगने पर इनके भाग्य-
इनको अपने घर ले गये। इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की पुत्री रत्नावली

विवाह

से हो गया; कहते हैं कि तुलसी के एक “तारक” नाम का पुत्र भी हुआ था जो बचपन में ही मर गया। यह प्रसिद्ध है कि गोस्वामी जी अपनी गुणवती पत्नी रत्नावली को अत्यधिक प्रेम करते थे; स्त्री के प्रेमपाश में बद्ध होकर इन्होंने बालकपन की सारी शिक्षाओं को भुला दिया। वर्षाश्रुत की गङ्गा को तैर कर समुद्राल जाना, साँप को पकड़ कर आँगन में कूदना आदि घटनाएँ इनकी विषयानुरक्ति की सूचना देती हैं। एक बार इनकी प्रिया इनके पीछे अपने मायके चली गई, जब तुलसीदास जी घर लौटे और इन्हें मालूम हुआ तो तत्काल ही समुद्राल चल दिये। पत्नी को इस तत्परता से पीछा करते देखकर अपने मायके

बालों के सामने बड़ी लजा मालूम हुई और इनकी विषयानुरक्ति पर उसने इनको बड़ा धिकारा:—

“लाज न आवत आपु को, दौरे आयहु साथ ।
 धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहहु मैं नाथ ॥”
 “अस्थिचर्ममय देह मम, तामें जैसी प्रीति ।
 तैसी जौ श्रीराम महुँ, होत न तौ भवभीति ॥”

इन शब्दों ने हृदय पर चोट की, तुलसीदास की आँखें खुलीं; वे लौट दिये और काशी में आकर भगवद्भजन करने लगे ।

जान पड़ता है कि पहिले-पहिले गोस्वामी जी को वितण्डावादियों ने उखाड़ने का प्रयत्न किया । लोग इनकी हँसी उड़ाते थे और इनको अपमानित

विरक्त जीवन

करने का प्रयत्न करते थे । किन्तु तुलसी को अब इन संसार वालों की चिन्ता न थी । हाँ वे कभी-

कभी तङ्ग आकर इनको फटकार अवश्य देते थे:—

“धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ ।
 काहू की बेटी सौ बेटा न ब्याहन, काहू की जाति बिगारन सोऊ ॥
 तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाकी रुचै सो कहै कछु ओहू ।
 माँगि कै खैबौ, मसीत को सोइबौ, लेवे को एक न देवे को दोऊ ॥”

हो सकता है कि इन लोगों से तंग आकर ही आपने काशी को छोड़ दिया, और चित्रकूट चले गये फिर अयोध्या आये । उस समय संवत् १६३१ में आपने अपना अमर काव्य “रामचरित मानस” प्रारम्भ किया:—

संवत् सोरह सौ इकतीसा । करौ कथा हरिपद धरि सीसा ॥
 नौमी भौमवार मधु मासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥

(बालकावध)

गोस्वामी जी की मृत्यु का काल निश्चित है संवत् १६८० और स्थान

मृत्यु

निश्चित है काशी; दिन तथा तिथि के विषय में अवश्य मतभेद है:—

संवत् सोरह सौ असी, असी गङ्ग के तीर ।
 आवण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ शरीर ॥

कुछ लोग दूसरी पंक्ति को—

भाव्य कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यौ शरीर ।”
भी पढ़ते हैं ।

गोस्वामी जी के जावन से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ अन्य बातें भी परम्परा

कुछ और बातें

से चली आती हैं । कहते हैं कि इनकी स्त्री को जब यह शात हुआ कि वे विरक्त होकर सचमुच चल गये तो खोज कराकर इनके पास यह लिख भेजा:—

“कटि की खीनी कनक सी, रहति सखिन संग सोइ ।

मोहि फटे की डर नहीं, अनत कटे डर होइ॥”

इसके उत्तर में गोसाईं जी ने लिख भेजा:—

“कटे एक रघुनाथ सँग, बाँधि जटा सिर केस ।

हम तो चाखा प्रेमरस, पत्तो के उपदेश ॥”

विनयपत्रिका के—“ब्याह न बरेखी जानि पाति न चहत हौं ।” के आधार पर कुछ लोगों का अनुमान है कि गोस्वामी जी का विवाह न हुआ था ।

गोस्वामी जी ने अपने काव्यों में या अन्यत्र कहीं भी किसी मानवीय चरित का वर्णन नहीं किया है । केवल ४ दोहे एक अपने मित्र टोडर के

टोडर और तुलसी

विषय में लिखे हैं । इन टोडर के विषय में कुछ निश्चय नहीं । ये काशी के जमींदार थे, इनके

पुत्र-पुत्रादि सदा से गोस्वामी जी का आदर करते चले आये हैं । टोडर के

मरने पर वास्तव में तुलसी को कुछ दुःख हुआ होगा नहीं तो वे कुछ भी न

लिखते । तुलसी का ४ दोहे लिखना टोडर के लिए बड़े गौरव की बात है ।

यह भी प्रसिद्ध है कि आल्लाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास तुलसी के भाई थे,

परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता, सम्भवतः वे आपके गुरुभाई रहे हों ।

“दौ सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता” में इनको तुलसी का सगा भाई लिखा है ।

यह भी प्रसिद्ध है कि मेवाड़ की प्रसिद्ध रानी ‘मीराबाई’ से भी भगवद्-भक्त के नाते तुलसी का परिचय था । जब साधु समागम से अलग रहने के

तुलसी और मीरा

लिए कुटुम्ब वालों ने अनेक प्रकार की ताड़ना मीरा को दी तो उन्होंने तुलसी के लिए एक पत्र

भेजा जिसमें लिखा था:—

“घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई ।
हमको कशा उचित करिबो है सो लिखिए समुझाई ॥”

तुलसीदास जी का यह प्रसिद्ध पदः—

“जिनके प्रिय न राम वैदेही ।

तजिये तन्हें कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।

तुलसी सोइ सब भांति आपनो पूज्य प्राण ते प्यारो ।

जाते होइ सनेह राम सों सोई मतो हमारो ॥”

उक्त प्रश्न का उत्तर माना जाता है । किन्तु ऐतिहासिक समय-गणना इसके पक्ष में नहीं, क्योंकि मीरा की मृत्यु १६०३ में हो चुकी थी ।

(२) रचनाएँ

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं के विषय में विद्वानों में मतभेद है उसी प्रकार ‘उन्होंने कितने ग्रन्थों की रचना की’ इस प्रश्न का भी उत्तर भिन्न-भिन्न विद्वानों से भिन्न-भिन्न मिलता है । कम से कम इसे एवं मानते हैं कि “विनयपत्रिका” आपका अन्तिम ग्रन्थ है और कुल मिलाकर आपने निम्नलिखित ११ ग्रन्थ अवश्य लिखे हैंः—

मतभेद

(१) रामचरित मानस

(२) कवितावली

(३) गोतावली

(४) कृष्ण गीतावली

(५) बरवै-रामायण

(६) दोहावली

(७) पार्वती-मङ्गल

(८) जानकी-मङ्गल

(९) वैराग्य संदीपिनी

(१०) रामललनिहछू

(११) विनयपत्रिका

अब इन ग्रन्थों पर थोड़ा-सा आलोचनात्मक विचार भी कर लें ।

“रामचरित मानस” या रामायण गोस्वामी जी के २ सर्व प्रसिद्ध अमर काव्यों में से है। हो सकता है कि यह आपका पहिला ही काव्य हो। जैना

(१) रामचरित मानस कि ऊपर कहा जा चुका है इसकी रचना सम्भवत् १६३१ में चैत्र मास की नवमी को अयोध्या में प्रारम्भ हुई थी। इसमें ७ काण्ड हैं जिनका विभाजन वाल्मीकि रामायण के आधार पर है, केवल उत्तरकाण्ड स्वतन्त्र है। इसका नाम “रामचरित मानस” क्यों पड़ा इसका भी कारण कवि ने बतला दिया है:—

“रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुमय मित्रा सन भाखा।

ताते रामचरित मानस वर। घरेउ नाम हिय हेरि हरसि हर॥”

बालकाण्ड एक बहुत बड़ी भूमिका है जिसमें आज़ादिकारिक-विशेषतः साङ्ग-रूपकों से युक्त—वर्णन बड़ा ही मनोरम तथा साहित्यिक है। विद्वानों का विचार है कि इस ग्रन्थ का सार अयोध्या काण्ड है, जितनी तत्परता और मनोयोग इस काण्ड में मिलता है उतना औरों में नहीं। इस काण्ड के अन्त में उन्होंने स्वयं लिखा है:—

“भरत चरित करि नेम, तुलसी जे सादर मुनहि।

सीय-राम पद प्रेम, अवसि होइभव रस विरति।”

चतुर्थ काण्ड का प्रारम्भ कवि ने फिर काशी आकर किया और काशी की महिमा का गुण-गान किया है। किष्किन्वाकाण्ड में वर्षा और शरद का वर्णन अत्यन्त मनोरम तथा शिक्षाप्रद है। ज्ञानियों की दृष्टि से उत्तर काण्ड सर्वश्रेष्ठ है और साहित्यिकों की दृष्टि से अयोध्याकाण्ड, बालकाण्ड में कलाना का भी कमनीय चमत्कार है।

(कवितावली को कवित्त रामायण भी कहते हैं। इसमें भी सात काण्ड हैं, किन्तु संक्षेप में। सवैया, कवित्त, घनाक्षरी तथा छप्पय आदि छन्दों का इसमें

(२) कवितावली

प्रयोग है। कुछ लोगों का विचार है कि गोस्वामी जी ने इसको ग्रन्थ के रूप में नहीं लिखा, उनके पीछे किसी ने या स्वयं उन्होंने अपने छन्दों को संकलित करके ग्रन्थ का रूप दे दिया। इस अनुमान के कई कारण हैं। सबसे पहिली बात तो यह है कि इसके प्रारम्भ में मङ्गलाचरण नहीं है, यदि तुलसी इसे ग्रन्थ रूप में लिखते

तो मङ्गलाचरण अवश्य देते ; यह सम्भव नहीं हो सकता कि तुलसी जैसा

संग्रह

वर दे। दूसरी बात यह है कि इस पुस्तक के काण्डों में बड़ी असमता है, एक काण्ड के विस्तार और दूसरे काण्ड के विस्तार में कोई बराबरी का सम्बन्ध नहीं। बालकाण्ड में २२, अयोध्याकाण्ड में २८, अरण्यकाण्ड में १, किष्किन्धा में १, सुन्दरकाण्ड में ३२, लङ्काकाण्ड में ५८ तथा उत्तरकाण्ड में १८१ छन्द हैं—फिर विस्तार की समता कहाँ से आ सकती है ? तीसरी बात है इस ग्रन्थ की मुक्तक जैसी शैली केवल मोटी-मोटी बातों को लेकर उनका वर्णन करते हुए रामचरित का आभास इमें कवि दे देना है; ऐसा प्रतीत होता है कि जिन स्थलों पर कवि की रचि रमी उनका ही विशद वर्णन किया है, शेष का थोड़ा भी नहीं। इस भाँति अयोध्याकाण्ड में वनगमन, सुन्दरकाण्ड में लङ्का-दहन, लङ्काकाण्ड में युद्ध का वीभत्स वर्णन तथा उत्तरकाण्ड में विनय, देश-दशा तथा आत्मचरित बहुत अच्छे बन पड़े हैं। चौथी बात है, कथा की शृङ्खला का अभाव। कवि ने इस बात का भी प्रयत्न नहीं किया कि सारी कथा भी पाठक के सामने आ सके। भरत के विषय में मौन रहना, अहिल्यो-द्वार तथा कैकेयी-दशरथ-सम्वाद आदि तो ऐसे स्थल हैं जिनको, यदि कथा का तनिक भी ध्यान तुलसी को होता तो वे, कभी न भूलते। पाँचवीं बात है कवितावली के कुछ कवित्तों का ठोक समस्यापूर्ति का स्वरूप होना। ऐसे छन्द उत्तरकाण्ड में बहुत हैं जिनका न कथा से कोई सम्भव सम्बन्ध है और न समस्यापूर्ति के अतिरिक्त रचना का कोई दूसरा कारण। उदाहरण के लिए समस्या है “तब तैं सब पाहन पूजन लागे”। इसकी पूर्ति तुलसी निम्नलिखित सवैया में करते हैं:—

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ, पितु काल करान विलोकि न भागे ।

“राम कहाँ” “सब ठाँउ है” खँभ में !” “हो” सुनि हाँकन्ह केहरि जागे ।

वैरी विदारि भये बिकराल, कहे प्रहलादहि के अनुरागे ।

प्रीति प्रतीति बड़ी तुलसी तब ते सब पाहन पूजन लागे ॥

काशी की महामारी आदि वर्णनों को तो कलिकाल वर्णन या देश-दशा वर्णन

करके क्षमा भी कर सकते हैं, किन्तु इस काण्ड के १३३, १३४ तथा १३५ वें छन्द में श्रोकृष्ण और सखियों की जो कथा है उसका कारण समस्यापूर्ति के अतिरिक्त दूसरा हो ही नहीं सकता। इस प्रकार हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि “सूरसागर” के समान “कवितावली” एक मुक्तक ग्रन्थ है जिसमें न कथा का शृङ्खला मिलती है और न कथा का प्रवाह; केवल ऐसे मंजुल स्थलों को लेकर ही रचना की जाती है जिनमें कवि की मनोवृत्ति अविकर रमो है और इस भाँति कथा का चलता हुआ आभास मिल जाता है। हमारा अनुमान है कि इसका काण्डों के अनुसार विभाजन और संग्रह भी पीछे तुलसी के किसी शिष्य ने ही किया होगा, स्वयं उन्होंने नहीं।

जैसा कि हमने अभी निर्णय किया है “कवितावली” को कथा की दृष्टि से देखने पर हमको अधिक आनन्द न मिलेगा, फिर भी इस ग्रन्थ का एक

कवितावली की भाषा

अपना महत्व है। यह ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखा गया है और सारे ग्रन्थ में भाषा एक सी ही नहीं है, ध्यानपूर्वक देखने पर जान पड़ता है कि रसा-नुकूल भाषा रचना की दृष्टि से तुलसी का इस ग्रन्थ

में भी पूर्ण सफलता मिली है। जहाँ शृङ्गार, कवण, वात्सल्य आदि कोमल रस हैं वहाँ भाषा मधुर, मनोरम पदावली से संयुक्त सरल ब्रजभाषा है; किन्तु वीर, भयानक या वीभत्स का श्रोजपूर्ण वर्णन है वहाँ भाषा की कठोरता देखने योग्य है। राम के धनुष-भङ्ग के वीरतापूर्ण प्रसङ्ग को देखकर एकदम चारणकाल के उस अपभ्रंशमिश्रित भाषा काठिन्य का ध्यान आ जाता है:—

“दिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पन्वै समुद्र सर।

ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर।

दिगयदं लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर।

सुरविमान हियमानु भानु सङ्घटित परस्पर।

चौकैं विरञ्च संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।

प्रह्लाद खण्ड कियो चण्ड धुनि जबहि राम सिवधनु दख्यौ॥”

केवल “लरखरत” “परत” या “ब्याल बधिर” इत्यादि में खड़-खड़ की ध्वनि ही श्रोजोत्पादक नहीं है, प्रत्युत “उर्वि” “गुर्वि” तथा “सर्व पन्वै”

इत्यादि में संयुक्त वर्ण भी वे ही रखे गये हैं जो वीर या मयानक के अनुकूल है; “ब्रह्मण्ड, खण्ड, चण्ड” इत्यादि शब्दों के प्रयोग से मानो साक्षात् धनुष टूटने का ही शब्द सुनाई पड़ रहा हो। वीभत्स का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

“सोनित सौ सानि-सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि-घोरि कै ।”

‘सानि-सानि’, ‘गूदा’, ‘घोरि-घोरि’ कितने घृणोत्पादक हैं। अब कोमलता का एक उदाहरण सीता-स्वयंवर में देखिये:—

“साँवरो किसोर, गोरी सोभा पर तृण तोरि,
‘जोरी जियो जुग-जुग’ सखोजन जाँचहाँ ।”

शब्दों का सङ्कलन कितना सुन्दर है “जोरी जियो जुग-जुग”, मधुरता, प्रसाद गुण और कोमलता सभी मिलती हैं। इसी भाँति प्रत्येक रस के उदाहरण लेकर यदि देखा जावे तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि कथितावली की भाषा में बड़ा अन्तर है और यह अन्तर रसानुकूल हुआ है। साधारणतः भाषा बड़ी ही सरल, मनोरम तथा आकर्षक है:—

“सीस जटा उर बाहु बिसाल, विलोचन लाल, तिरछी सी भौंहें ।
तून सरसन बान धरै, तुलसी बन-मारग में सुठि सौंहें ।
सादर बारहि बार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं ।
पूछति ग्राम बधू सिय सौ “कहौ साँवरे से सखि ! रावरे को है” ।”

इस व्रजभाषा में कुछ विदेशी प्रचलित शब्द भी आ गये हैं, जिनका प्रयोग नाम मात्र को ही हुआ है; जैसे सबील (= चिन्ता); दील; खलक (= संसार) दो-एक शब्द पूर्णतया ग्रामीण हैं, जैसे—सुसर, खसम आदि। कुछ छन्दों में अत्यन्त साधारण मुहाविरें भी मिलेंगे; जैसे, “घोबी को सो कूर”, “आखिन में राखिवे जाग” आदि। कुछ लाकोक्तियाँ तो बहुत ही सुन्दर बन पड़ी हैं:—

“बयो लुनियत सब याही दादीजार को,”
“काटिए न नाथ विषहू को रुख लाइके ।”
“घोबी को सो कूर न घर को न घाट को ।”

फिर भी हम तुलसी की इस ब्रजभाषा को सूर की भाषा के समान कह सकते । ग्रामीण ब्रजभाषा का जो स्वाभाविक मिठास सूर की भाषा में वह तुलसी की मधुर ब्रजभाषा में नहीं । सूर में प्रवाह, और स्वाभाविक उनके अपूर्व अधिकार की द्योतक है । इस भाँति तुलसी ने अपनी “कवितावली” में रसानुकूल भाषा का प्रयोग किया है, जो भाषा सूर की भाषा के समकक्ष न रखी जाकर भी अत्यन्त उपयुक्त तथा सरल एवं स्वाभाविक है।

गोस्वामीजी का तीसरा ग्रंथ “गीतावली” है । इसको भी कवितावली के समान ब्रजभाषा में ही लिखा गया है । गीतावली और विनय पत्रिका इन

(३) गीतावली

दो ग्रंथों को गोस्वामीजी ने भिन्न २ राग रागिनियों से युक्त बना कर साहित्य-अनुरागियों तथा संगीत-अनुरागियों दोनों के लिए भक्ति का सरल संदेश भेजा है । इसमें भी वही राम-कथा है और वही ७ कांडों में इसका विभाजन । हाँ, जैसा कि हम “शैली” शीर्षक के अंतर्गत बतलावेगें, इस ग्रंथ में जिस कृष्ण भक्ति प्रचलित शैली का अनुकरण है उस शैली में लिखी गई कृष्ण लीला का कथा पर प्रभाव भी पड़ता है । वात्सल्य रस का स्त्रांत जो सूरसागर में है यहाँ भी किसी न किसी रूप में मिलता है । “यशोदा हरि पालने मुलावै” के समान तुलसी ने भी—

“गलने रघुपति मुलावै ।

लै लै नाम सप्रेम सरस स्वर कौसल्या कल कीरति गावै ॥”

“बालापन” का मधुर वर्णन किया है । यदि कथा के बाहरी स्वरूप पर ध्यान न दिया जावे तो “गीतावली” में सूर का अनुकरण सा मिलेगा बालकांड वात्सल्य की मधुरता से ही इसीलिए परिपूर्ण है । विस्तार की वह असमानता जो कवितावली के कांडों में मिलती है, यहाँ भी पाई जाती है सब कुछ होते हुए भी कोमलता और मधुरता की दृष्टि से यह एक सफल मुक्तक ग्रंथ है । भाव तथा भाषा दोनों की कोमलता हमको इसमें अनेक स्थलों पर मिलती है :—

“तुम्हें बिरह भई गति जौन ।

चित दै सुनइ, गम कइनानिध ! जानौं कछु पै सकौं कहि हौं न ।

लोचन-नोर कृपिन के थन ज्यों रहत निरंतर लोचन न-कीन ।

इस 'हा' धुनि-खगी लाज-पिंजरी मँहँ राखि हिये बड़े बधिक हठि मौन ।
 है; जेहि बाटिका बसति तहँ खग-मृग तजि तजि भजे पुरातन मौन ।
 दूर स्वाम-समीर भेंट भइ मोरेहुँ तेहि मग पगु न धरयो तिहुँ पौन ।"
 (कवितावली और गीतावली दोनों ही रचनाएँ ब्रजभाषा की है किंतु शैली का भेद होने से दोनों में अंतर है । पद कोमल भावों के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं और कवित्त कठोर भाव के लिए अधिक उपयुक्त । अस्तु, यद्यपि दोनों ही मुक्तक ग्रंथ हैं और दोनों की भाषा एक ही है तथा दोनों की

कवितावली और गीतावली

कथा भी समान है, तथापि कवितावली में प्रखर भावनाओं—वीर, भवानक और रौद्र रसों—का प्रकाशन अधिक सफल हो गया है और गीतावली में कोमल भावनाओं—कृष्ण, शृङ्गार तथा शांत रसों—का प्रकाशन अधिक स्वाभाविक । कथावस्तु का कलेवर भी दोनों में भिन्न-सा है । गीतावली के अनेक स्थल सुरसागर के समान स्थलों में पूर्णतया मिलते हैं बाल्यावस्था और विरह के जो चित्र तुलसी ने "गीतावली" में खींचे हैं उनमें जान पड़ता है कि उन पर सुरसागर का प्रभाव पड़ा है । फिर भी तुलसी की काव्यमयी भाषा में सौन्दर्य नहीं जो सूर की ग्रामीण भाषा का प्राण है ।

"दोहावली" तुलसी के ५७३ पद्यों का संग्रह है । इसमें दोहे और सोरठे ही छंदों का प्रयोग हुआ है । कम से कम आधे छंद ऐसे हैं जो तुलसी के अन्य ग्रंथ "रामचरित मानस" "तुलसी-सतसई" आदि में आ गये हैं । इसलिए इस ग्रंथ का कोई मुख्य विषय नहीं । ईश्वर भक्ति, धर्मपरायणता, नीति-कुशलता आदि बातें दिखलाई पड़ेगी । चातक की अन्योक्ति द्वारा अनेक छंदों में प्रेम—भगवत प्रेम की भी पर्याप्त गाथा गाई गई है । कुछ दोहे ऐसे भी हैं जिनका यहाँ कोई भी प्रसंग न था । भक्ति की अनन्यता, स्वार्थहीनता और समर्पण चातक प्रसंग में बड़ी सफलता से दिखलाये गये हैं ।

ब्रज-भ्रमण करते समय तुलसीदास ने एक छोटा सा काव्य और लिखा था । इसमें ६१ पदों में कृष्ण चरित्र का वर्णन है । ग्रंथ में न कोई क्रम है और न पूरी कृष्ण लीला ही । कृष्ण गीतावली के कई पद तो "सुरसागर" में लिये

(४) कृष्ण गीतावली

गए प्रतीत होते हैं; संभवतः गोस्वामीजी के स्वर्गवास के अनंतर किसी संग्रहकर्त्ता ने ऐसा भी कर दिया हो।

शुद्ध ग्रामीणता और श्रवधीपन का एक २० पद्यों का ग्रंथ “रामलला नहछू” है, जिसमें “लोहार” छंद में उन गीतों को दिया गया है जिनको

(६) रामलला नहछू

स्त्रियाँ किसी के जन्मोत्सव पर गाया करती हैं। इस ग्रंथ में पूर्वी श्रवधी का मिठास अधिक सुन्दर है। संभवतः अश्लाल गीतों के स्थान पर भगवज्जन्म सम्बन्धी गीतों के प्रचार के लिए हा यह लिखा हो ; किंतु कवि ने इस ग्रंथ में मर्यादा को मानो थोड़ी ढेर के लिए सुला दिया हो :—

“काहे रामजी सौवर लछिमन गोर हो।

राम अहहि दशरथ के, लछिमन आनक हो ॥”

तुलसीदास अपने इष्टदेव के जन्मोत्सव पर ऐसे गीत गावेंगे, यह कोई भी न मानेगा, इसलिए अधिकतर विद्वान् इस ग्रंथ को तुलसीकृत नहीं मानते। लोहारन, दरजिन, मालिन इत्यादि से जो मजाक इसमें किया गया है वह कोई चटपटा तबियत वाला रसिक भले ही लिख दे, गोस्वामीजी से ऐसी आशा नहीं है।

यह ग्रंथ बरग्या छंद में लिखा गया है इसलिए इसका नाम बरग्यै

(७) बरवैरामायण

रामायण” पड़ा। इसमें भी सात कांड हैं। यह छोटा सा ग्रंथ है। इसके कृष्किन्धा कांड में २ पद्य और लंकाकांड में केवल एक ही पद्य है। बालकांड के कुछ छंद सुन्दर है:—

“गरब करहु रघुनन्दन जनि मनि माँह।

देखहु आपनि मूरत सिय के छाँह ॥”

(८) वैराग्यसंदीपिनी

इस ग्रंथ में केवल ६२ पद्य हैं। छंद, दोहा, मोरठा तथा चौपाई हैं। साधारण नीति का सा ग्रंथ है; शायद तुलसी ने इसे नहीं लिखा। इसमें प्रौढता का पूर्णतया अभाव है।

शिव-पार्वती तथा सीता-राम के विवाह का वर्णन दो अलग पुस्तकों में

(६) पार्वतीमंगल तथा

(१०) जानकी-मंगल

किया गया है। पार्वतीमंगल में १४८ सौहर और १६ हरिगीतिका—केवल १६४ छन्दे हैं। इसकी वाक्वरचना बड़ी उत्कृष्ट, भाषा ललित और शब्द

संगीत है जानकी मंगल में १२६ छन्दे हैं। इसमें रामायण की भाँति जनक-वाटिका में सीताराम का साक्षत्कार न कराकर यज्ञशाला में ही कराया है।

महात्मा तुलसीदास जी का अन्तिम तथा किसी न किसी आलोचक की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ “विनयपत्रिका” है। इस ग्रन्थ रत्न में गोस्वामी जी ने

(११) विनयपत्रिका

अनेक देवी-देवताओं के अनन्तर नवधा भक्ति के मनोहर पद लिखे हैं और इसका अग्रसान विश्व की दशा निवेदन करने के अनन्तर भगवान् से कल के अस्थानारों के शपन करने की प्रार्थना में है। यह एक अर्जी भगवान् के दरबार में यथाऽवार भेजी जाती है जिसपर लक्ष्मण, हनुमान् आदि की सिफारिश है। भगवान् इसको पढ़कर मुसकाते हैं और इन्हे “सही” कर देते हैं:—

सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है।

कृपा गरीब-निवाज की, देखत गरीब की साहब बाँह गही है।

विहँमि राम कह्यो सत्य है, सुधि मैं हूँ लटी है।

मुदिन माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की, परी रघुनाथ सही है

विनयपत्रिका में केवल २७६ पद हैं। जिनमें गणेश, सूर्य, शिव आदि की विनय है। सबसे यही प्रार्थना की है कि मुझे भगवान् के चरणों में भक्ति दो:—

(१) तुलसी रामभगति वर माँगै।

(२) देहि मा मोहि प्रण-प्रेम निज नेम यह, राम धनश्याम तुलसी पपीहा।

इस ग्रन्थ के ६१ छन्दों की भाषा क्लृष्ट संस्कृत है। कहीं-कहीं क्रियाओं और समासों देखकर कम पढ़ा-लिखा पाठक धबरा उठता है। वस्तुतः इस शैली से जान पड़ता है कि कविका हृदय भगवाद् गुणगान में कितना रमा है:—

“सकल सुखकंद आनन्द बन पुण्यकृत,
 विदु माधव द्वन्द्वविपत्तिहारी ।
 यस्यान्निपायोज अज शंभु सनकादि,
 मुक शेष मुनिवृन्द अलि निलयकारी ।
 सकल-सौभाग्य संयुक्त त्रैलोक्य श्री,
 दक्षदिशि रुचिर वारीश कन्या ॥
 बसत बिबुधापगा निकट तद सदन वर,
 नयन निरखंति नर तेऽतिघन्या ॥”

विनयपत्रिका वास्तव में एक अद्भुत ग्रन्थ है। कवि की मंजो हुई अद्भुत काव्यशक्ति, अप्रतिम प्रतिभा तथा अनन्य भक्तिरससात का यदि प्रवाह देखना हो तो इस अमर ग्रन्थ में देखना चाहिए। कथा का कोई प्रतिबन्ध न होने के कारण भक्ति का जो अप्रतिहत प्रवाह यहाँ मिलता है वह रामचरितमानस में भी नहीं है। हृदय का यह सच्चा और सादा चित्र है। सद्धर्मनिरूपण, सत्-शिक्षा, सत्यता, सरलता, सहनशीलता, धीरता, वीरता, उदारता आदि का इसमें अपूर्व चित्रण है।

विनयपत्रिका को ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता चलता है कि इस ग्रन्थ में तुलसी ने जितने पद लिखे हैं सबका वर्णन भक्ति के उन ६ अंगों के अंतर्गत हो सकता है। आदि से अंत तक यह ग्रंथ नवधा भक्ति से परिपूर्ण है।

नवधा भक्ति

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, पादसेवन, वंदन, सख्य, दास्य और आत्मनिवेदन के अनेक सुन्दर उदाहरण हमको इस ग्रन्थ में मिलेंगे। भक्त अपने मन की मूढ़ता का निवेदन कर भगवान् से उसे सुधारने का निवेदन करता है:—

ऐसी मूढ़ता या मन की ।

परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की ।”

“कबहू मन बिभाम न पायो ।

निसिदिन अमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिन-तान्यो ॥”

“मोह मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।

याके लिए सुनहु करुनामय मैं जग जन्मि-जनमि दुख रोयो ।”

“सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो ।

हरिपद-विमुख लखौ न काहु सुख सठ यह समिक्क सवेरो ।”

यह मन इतना मूढ़ है कि माया और मोह के भ्रम में पड़कर सदा जन्म-जन्मान्तरो में दुःख भोगता रहता है । यदि भगवान् की कृपा से इसका यह भ्रम छूट जाय तो आनन्द की प्राप्ति कठिन न होगी—

“माघव ! मोह फाँस क्यों टूटें ।

बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यन्तर ग्रंथि न छूटै ।

X

X

X

तुलसीदास हरि-गुरु-करुना-विनु विमल विवेक न डोई ।

विनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई ।”

भक्त के हृदय की कामना है कि वह सद्गुणों से युक्त और असद्गुणों से रहित जीवन व्यतीत करता हुआ भगवान् की भक्ति प्राप्त करे :—

“कवहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।

श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपातैं संत सुभाव गहौंगो ।

यथा लाभ संतोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो ।

परहित-निरत निरंतर मन-क्रम-वचन नेम निबहौंगो ।

परवचन अति दुसह सवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।

विगत मान, सम सीतल मन, परि गुन, नहि दोष कहौंगो ।

परि हरि देह जनित चिन्ता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।

तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो ॥”

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण ग्रंथ में उस भक्त कवि के भगवत्प्रेम के वे उद्गार बिखरे पड़े हैं जिनको परख कर हम जैसा सांसारि व्यक्ति भी जन्म मरण के चक्र से छुटकारा पा सकता है ।

यों तो हमने अब तक “विनय पत्रिका” को भक्ति का अपूर्व ग्रंथ कहा है, किंतु यह मानना पड़ता है कि गोस्वामीजी की ज्ञानपद्धति को समझने के लिए इस ग्रंथ को भली भाँति समझना बहुत आवश्यक है । यह हम कहीं कह चुके हैं कि

ज्ञानपद्धति

गोस्वामीजी साहित्यिक क्षेत्र के समान धार्मिक क्षेत्र में भी समन्वय को मानने वाले थे; उनके मत में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का अपना-अपना महत्व और अपनी-अपनी आवश्यकता है; किसी को भी हम त्याग नहीं सकते उनके मत में ज्ञान भक्ति का साधक है; भक्ति साध्य है और ज्ञान साधक है। पान-स्थान पर मायाजन्य भ्रम को मिटाना, मैं, मोर इत्यादि को छोड़ देना आदि बातों से यह माना जाता है कि वे अद्वैतवाद को मानते थे (उनकी ज्ञानवृद्धि पर आगे चल कर विचार करेंगे ।); यहाँ गोस्वामीजी का वह प्रसिद्ध पद उदाहरण स्वरूप ले लेना चाहिए जिस पर बहुत बड़ा विवाद विद्वानों में चला आता है :—

के सब कहि न जाइ का कहिए ?

देखत तब रचना विचित्र अति समुक्ति मनहि मन रहिए ।

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे ।

घोए भिटै न, मरे भीति दुख, पाहय यहि तनु हेरे ।

रबिकर-नीर बसै अति दाखण मकट रूप तेहि माहीं ।

बदन हीन सो प्रसै चराचर पान करन जे जाहीं ।

{ कोऊ कह सत्य, भूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै ।

{ तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै ॥

अन्तिम दो पंक्तियों पर विचार कीजिए । “कोऊ कह सत्य”, (नैयायिक लोग); “भूठ कह कोऊ” (अद्वैतवादी); “जुगल प्रबल” अर्थात् व्यक्त रूप से सत्य और अव्यक्त रूप से असत्य (सांख्यवादी) फिर आगे गोस्वामी जी कहते हैं कि ये तीनों विचार “तीन भ्रम” हैं, जो इनको छोड़ देगा वह अपने को पहिचान सकता है । इसका तात्पर्य ? केवल यही कि दार्शनिक विवादों में न पड़ना चाहिए, अपने स्वरूप को (कि मैं ब्रह्म का ही स्वरूप हूँ) पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिए । इस भाँति उन्होंने यहाँ भी ज्ञान को भक्ति का साधक माना है और बेदान्त-मतानुसार जीव को ब्रह्म ही माना है । विनय पत्रिका के अन्य पदों में भी ज्ञान का चरम विकास हमें मिलता है :—

“माधव ! अस तुम्हारि अस माया ।

करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहि, जब लगि करहु न दाया ।

ज्ञान भगति साधन अनेक, सब सत्य झूठ कछु नाहीं ।
तुलसीदास हरिकृष्ण मिटे भ्रम, यह भरोस मन माहीं ॥”

समन्वय

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल को स्वर्ण-युग माना गया है; भाव और भाषा का जितना निखरा हुआ रूप हमें उम काल में मिला उतना रीति-काल में भी न मिल सका । जब हम यह विचार करते हैं कि यह काल हिन्दी-साहित्य का शैशव-काल ही तो था फिर इतनी प्रौढ़ता किस प्रकार आ सकी, तो वास्तव में हमें आश्चर्य में पड़ जाना पड़ता है । व्रजभाषा की

भक्ति काल

कविता प्रारम्भ ही हुई थी कि सूरदास जैसे अमर और अद्वितीय कवि का जन्म हो गया; श्रवण की सुनी कवि ही अपनी अटपटी बातें कह रहे थे कि “रामचरितमानस” जैसे अमर काव्य का निर्माण होगया; यह आकस्मिक उत्थान क्यों हुआ ? ध्यान देने पर ज्ञात होता है कि भक्ति-काल की चारों शाखाओं में से एक भी प्रतिनिधि कवियों के अतिरिक्त अन्य कवियों का अस्तित्व एक प्रकार से था ही नहीं ; उदाहरण के लिए रामभक्तियों को लीजिए, इसके प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं किन्तु यदि इस शाखा के अन्य “प्रसिद्ध काव्यों” के नाम पूछे जाय तो हमें निराश होकर कहना पड़ेगा कि स्वयं गोस्वामी जी का श्रवण इतना व्यापक था कि अन्य कवियों के लिए कुछ करने योग्य रहा हो नहीं और इसीलिए पीछे ऐसा कोई कवि इस शाखा में न हुआ जिसके नाम से गोस्वामी जी के नाम की रक्षा हो सके । इसी भाँति जिस क्षेत्र को सूर ने अपनाया था उसमें उनकी बराबरी करनेवाला तो दूर रहा उनका पासङ्ग भी नहीं मिलता । अस्तु भक्ति-काव्य का सारा नाम केवल उसके प्रतिनिधि कवियों के कारण है; और हिन्दी की रामभक्ति शाखा का सारा श्रेय गोस्वामी जी को ।

अब यह देखना चाहिए कि गोस्वामी जी का काव्य ऐसे किन आन्तरिक गुणों से परिपूर्ण था जिनके कारण वे भूत-भविष्य और वर्तमान तीनों ही कालों में अप्रतिम बन गये । उनके काव्य के बाह्य-अङ्गों पर हम आगे चल कर विचार करेंगे; यहाँ इस अध्याय में केवल उनके काव्य की एक प्रमुख

और किसी-किसी के मन में सर्वभ्रेष्ट, विशेषता “समन्वयवाद” पर विचार किया जावेगा। समन्वय का साधारण अर्थ माना जा सकता है ऐसा दृष्टिकोण

समन्वयवाद

पक्षपात या सङ्कोच के अभाव में इतनी व्यापकता हो कि लगभग सभी सराहनीय विचारकों के अविरোধी विचार उसमें सम्मिलित किये जा सकें। उदाहरण के लिए वर्तमान के राजनीतिक समन्वय को लीजिए; देश में अनेक पार्टियाँ हैं और उनके अलग-अलग साधन और हित हैं, हिन्दू-महासभा केवल हिन्दुओं के हितों की रक्षा करती हुई इतर लोगों का कोई वास्तविक ध्यान नहीं कर सकती; कम्युनिस्ट पार्टी केवल मजदूरों का ही दल है, इतर लोग इससे लाभ नहीं उठा सकते; तब कांग्रेस एक ऐसी संस्था थी जो महात्मा जी के नेतृत्व में सभी लोगों के हित का ध्यान रखती थी, वह गांधीवाद भारतीय राजनीतिक समन्वय हुआ। यह कहा जा सकता है कि सभी मनों का सङ्कलन नहीं हो सकता क्योंकि मत-वैभिन्य को आप दूर नहीं कर सकते। ठीक है, किन्तु प्रत्येक मत एक विशेष दृष्टिकोण से एक विशेष समुदाय के लिए होता है यदि उस दृष्टिकोण से उस समुदाय के हितों का ध्यान आपको अभीष्ट है; तो आप अवश्य उस मत के साधारण सिद्धान्तों को महत्व देंगे। प्रस्तुत प्रसङ्ग पर आकर हम देखते हैं कि तुलसी की लोक-प्रियता और सफलता का एक प्रधान कारण—सर्वप्रमुख कारण—उनका अनेक प्रकार का समन्वय है।

यह मान लेने पर कि भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था और तुलसी उसके सर्वप्रमुख कवि, और यह भी निश्चय हो जाने पर कि

तुलसी का त्रिविध समन्वय

तुलसी के महत्त्व के मूल में समन्वयवाद निहित है, अब हम तुलसी के समन्वयवाद का वर्गीकरण करते हैं। यह तो इतिहास ही बतलाता है कि उस समय हिन्दुओं का राजनीति में तो हाथ था ही नहीं, वे केवल धार्मिक और सामाजिक गुटियों को ही सुलझाने का असफल प्रयत्न किया करते थे; अतः तुलसी ने भी प्रत्यक्षरूप से राजनीति में हाथ नहीं डाला, (यों तो उनका सारा काव्य राम और रावण के दो विरोधी आदर्शों द्वारा सफल और असफल या दैवी और आसुरी राजनीति का ही परिचायक है) हाँ, शेष दोनों प्रकार की समस्याएँ—धर्म और समाज—उनसे अछूती न

रहीं। साहित्य को इन दोनों में सम्मिलित कर देने पर साहित्य, धर्म और समाज इन तीनों का स्वरूप तुलसी में मिलेगा। अस्तु, तुलसी में तीन प्रकार का समन्वय मिलता है—साहित्यिक, धार्मिक और सामाजिक। हम आगे इन पर क्रमशः विचार करते हैं।

साहित्यिक समन्वय से यहाँ हमारा वह अभिप्राय नहीं है जिसे आप स्वर्गीय डा० श्यामसुन्दरदास की पुस्तक “हिन्दी साहित्य” के अन्तर्गत **साहित्यिक समन्वय** “भारतीय साहित्य की विशेषताएँ” शीर्षक लेख में पढ़ चुके हैं। वहाँ साहित्यिक समन्वय का अर्थ या हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, प्रेम घृणा आदि विरोधी भावों का प्रदर्शन, घात-प्रतिघात या चढ़ाव-उतराव द्वारा, करते हुए अन्त में सबको आनन्द में विलीन कर देना। किन्तु यहाँ साहित्यिक समन्वय का अर्थ है उस समय तक साहित्य की जितनी विभिन्न शैलियाँ थीं उन सब में रामकथा का तार गूँथ देना। हमारा तात्पर्य यह है कि तुलसी ने अपने इष्टदेव की कथा को इतने प्रकार से कहा है जितने प्रकार से उस समय संभव था। ब्रजभाषा में, अवधी में, दोहों में, कवित्तों में, पदों में—जो आपको रुचता हो उसी में उसी आनन्दकंद भगवान् दशरथनन्दन की मनोहर कथा का कथामृत पान कीजिए (व्यापक रूप में हम आगे विचार करते हैं)। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि तुलसी ने इतनी विभिन्न शैलियों में “कल्लि-मल-हरनी” रामकथा का प्रसार क्यों किया है। विद्वानों के कई मत हैं। कुछ लोग मानते हैं कि तुलसी भिन्न भिन्न रूपों में अपना हाथ मँज रहे थे कि देखें सफलता किधर मिलती है। दूसरे लोग अधिक संभव विचार रखते हैं कि उनको अपने इष्टदेव की कथा इतनी प्रिय थी और वे यह चाहते थे कि पाठक किसी भी रुचि का हो उसके पाठ रामकथा उसी शैली में जाकर उसके मुरझाए मन को हरा कर सके। यह विचार ठीक भी जान पड़ता है, आज भी चित्रपट का जो प्रेम विरह-आदि-विषयक गीत जनता में अधिक प्रचलित हो जाना है उसी की शैली को अपना कर कुछ अधिक समझदार व्यक्ति किसी राष्ट्रीय या धार्मिक गीत की रचना कर ही देते हैं; “जब तुम्हीं चले परदेस, लगा कर ठेस, कि प्रीतम प्यारा। दुनिया में कौन हमारा।” की शैली पर “जब तुम्हीं चले वनवास, सिया

के साथ, कि रघुवर प्यारा । लक्ष्मण का कौन सहारा ॥” वाला गीत बहुत लोगों ने सुना होगा; इसी प्रकार “बंसी बजा के, गौर चरा के, चले नहीं जाना” भी ऐसा ही एक सुधारवादी प्रयत्न है ।

सबसे पहिले भाषा के प्रश्न को लीजिए । साहित्यभाषा के रूप में उस समय हिन्दी में दो भाषाएँ प्रचलित थीं । एक तो लोकभाषा के रूप

भाषा— ब्रज तथा अवधी

में चलकर सूर द्वारा साहित्यिक बनाई गई ब्रजभाषा थी और दूसरी ईश्वरदास की “सत्यवती कथा” से प्रारंभ होकर सूफी कवियों द्वारा माँजी गई अवधी थी । तुलसी ने दोनों भाषाओं को अग्रनाया और संस्कृत शब्दावली की बहुलता द्वारा उनको उत्कृष्ट साहित्यिक रूप दिया । ब्रजभाषा में उनके कई प्रसिद्ध ग्रंथ—विनयपत्रिका, कवितावली और गीतावली हैं । भक्त समानोच्चकों का मत है कि “विनयपत्रिका” तुलसी का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है । इसकी भाषा सूर की भाषा की अपेक्षा अधिक संस्कृत, साहित्यिक तथा उत्कृष्ट है । सूर में ग्रामीण ब्रजभाषा का माधुर्य है; तुलसी में साहित्यिक ब्रजभाषा का । उनकी भाषा सूर की भाषा के समान चलती हुई न होकर एक व्यवस्थित स्वरूप वाली है । ब्रजभाषा की उत्कृष्टता यदि देखी जाय तो विनयपत्रिका में सबसे अधिक मिलेगी और कवितावली और गीतावली में कम; कदाचित् कारण यह हो कि “विनयपत्रिका” उनकी अंतिम और प्रौढ़ रचना है । यह तो हुई ब्रजभाषा की उत्कृष्टता; अब तुलसी के उस काव्य को देखना चाहिये जिसके कारण जो घर-घर प्रसिद्ध हैं । “रामचरित-मानस” की भाषा पश्चिमी अवधी है, जिसमें जायसी की भाषा के समान वे ग्रामीण रूप न मिलेंगे जिनको देखकर दक्षिणी हिन्दी प्रचारक प्राचीन काव्यों को “राष्ट्रभाषा-हिन्दी” से बाहर निकाल देना चाहते हैं; उसमें प्रसाद गुण अवश्य है—वह इतनी सरल है कि बिना पढ़े-लिखे भी उसे समझ लेते हैं किन्तु उसमें संस्कृत भाषा की वह कोमल-कान्त-पदावली कृष्टिगोचर होगी जो तुलसी की भाषा का अपना स्थायी गुण है । अब यदि “जानकी मंगल,” “पार्वती मंगल,” “वरवै रामायण” और “रामलला नहछू” को देखते हैं तो यहाँ अवधी का एक दूसरा ही रूप मिलता है ।

पूर्वी अवधी

“रामचरितमानस” के अनंतर “रामलला नहलू” किसी नये व्यक्ति को पढ़ाया जावे तो उसे इस बात का विश्वास न होगा कि दोनों को तुलसी ने लिखा होगा। इन ग्रंथों की भाषा अवधी है, किन्तु पूर्वी अवधी; वह जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों के टकर की है; उसमें मधुरता संस्कृत की नहीं अपनी ग्रामीणता की है। इस भाँति तुलसी का अवधी के दोनों रूपों पर पूर्ण अधिकार थे—वे पूर्वी अवधी भी उतनी ही सफलता से लिख सकते थे जितनी सफलता से पश्चिमी अवधी; ब्रजभाषा भी उनकी सूर से कम प्रौढ़ नहीं है। अस्तु, यदि केवल भाषा के ऊपर अधिकार होना भी महत्ता का एक चिह्न माना जावे तो निश्चय ही तुलसी हिन्दी के किसी भी कवि से बढ़कर थे, क्योंकि दूसरे और किसी कवि की इतनी सफल पहुँच एक भाषा के अतिरिक्त किसी दूसरी भाषा पर नहीं है।

अब उस समय तक प्रचलित हिन्दी साहित्य की शैलियों पर विचार कीजिए। अनेक प्रचलित शैलियों में से उस समय निम्नलिखित ५ अधिक प्रमुख हैं:—

प्रमुख शैलियाँ

- (१) वीरगाथा-काल की छप्पय पद्धति।
- (२) विद्यापति की गीत पद्धति।
- (३) भाटों की कवित्त पद्धति।
- (४) संतों की दोहा पद्धति।
- (५) ईश्वरदास की दोहा-चौपाई पद्धति।

अब हम प्रत्येक को क्रमशः लेते हैं।

वीरगाथा-काल में राजपूत राजाओं के पारस्परिक और विदेशियों के साथ जो युद्ध होते थे उनका ओजपूर्ण वीर रस से ओतप्रोत वर्णन करने

(१) छप्पय पद्धति

के लिए कवि लोग प्राकृत-मिश्रित भाषा का प्रयोग किया करते थे; इनका प्रिय छंद छप्पय होता था। गोस्वामी जी ने इस पद्धति पर लिखा तो बहुत थोड़ा है, किन्तु जितना भी लिखा है, सराहनीय है: वीररस के अनुकूल भाषा और छंद सभी उपयुक्त हैं:—

“दिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पञ्चै समुद्र सर ।
 ब्याल बाधर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर ॥
 दिग्ग यंद लरखरत, परत दसकंठ मुखभर ।
 सुरविभान हिमभानु, भानु संघटित परस्पर ।

चौंके विरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यो ।
 ब्रह्मांड खड कियो चंड धुनि, जबहि राम सिवधनु दल्यो ॥

दूसरी प्रचलित शैली वह थी जिसे अनाकर महाकवि विद्यापति ने मिथिला की अमराइयो में भगवान् कृष्ण और भगवती राधा की केलिकथा का मधुर संगीत प्रारंभ किया था । महात्मा

(२) गीत-पद्धति

सुरदास ने उस शैली को केवल शृंगार तक ही सीमित न करके भक्ति तथा वात्सल्य रस से भी ओतप्रोत कर दिया । गोस्वामी जी ने अपना प्रिय ग्रंथ “विनयपत्रिका” तो इस शैली पर लिखा ही, “गीतावली” जैसी सुन्दर पुस्तक भी लिखी । जहाँ “विनयपत्रिका” भक्ति का आगार है वहाँ “गीतावली” में मानव हृदय के अनेक भावों की सुन्दर व्यंजना की गई है । “विनयपत्रिका” तुलसी के भक्त हृदय का पूर्ण परिपाक है, कितनी दीनता, कितना समर्पण, कितना विश्वास और कितना परिताप इस ग्रंथ में मिलता है । कुछ आलोचक इसे तुलसी की सर्वश्रेष्ठ रचना इसी कारण मानते हैं:—

“मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो ।

याके लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो ।

×

×

×

तुलसी दास प्रभु कृपा करहु अब मैं निज दोष कछू नहि गोयो ।

डासत ही गई बीत निसा सब कबहुँ न नाथ ! नौद भरि सोयो ।”

गीतावली में वात्सल्य रस के भी सुन्दर चित्र मिलते हैं, यद्यपि उनमें सुर के चित्रों की सी वह गंभीरता नहीं है फिर भी उनकी सुन्दरता में किसी को संदेह नहीं । भाषा भी संस्कृतमयी, प्रसादगुणगर्भिता एवं साहित्यिक है । (अधिक परिचय के लिए “रचनाएँ” शीर्षक को देखिए) ।

(कवितावली में गोस्वामीजी ने भाटों की उस दरबारी शैली को अपनाया है जिसमें ब्रजभाषा की मधुरता कवित्त और सवैयों की मधुर ध्वनि में

(३) कवित्त शैली

मिलकर अपनी उपयुक्तता को सिद्ध कर देती है। इस ग्रन्थ में कवि ने सभी रसों का सफल समावेश किया है और रसानुकूल भाषा का सुन्दर परिवर्तन है। एक ओर कोमल से कोमल भाषा और दूसरी ओर कठोर से कठोर—यही तो भाषा पर अधिकार कहलाता है। (रसानुकूल भाषा की आलोचना अन्यत्र देखिए) कोमलता के उदाहरण अधिकतर सवैयों में हैं और जनकपुर या वनगमन के अवसर पर अधिक मिलेंगे:—

“छूति ग्रामवधू सिय सौं “कही साँवरे से, सखि ! रावरे को हैं ?”।

“मुनि सुन्दर बैन सुधारस साने, मयानी हैं जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हैं, समुझाइ कछू मुसकाइ चली ॥”

“एहि घाट तें थोरिक दूर अहे कटि लौं जल-थाह देखाइहौं जू।

परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यौं समुझाइहौं जू।

तुलसी अवलंब न और कछू, लरिका केहि भौंति जियाइहौं जू।

बर मारिए गोहि, बिना पग धोए हौं नाथ न नाथ चढाइहौं जू ॥

कठोर रसों के लिए आपने जिस ओजपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है वह अधिकतर लंकाकाण्ड में दिखाई पड़ती है। कितनी समर्थ भाषा है, कितनी व्यंजना और कितना प्रवाह है—व्यङ्ग्यता की कितनी व्यंजना है:—

“एक करै धौज, एक कहे “काढ़ी सौंज,” एक

औंजि पानी पी के कहे “वनत न भावनो”।

एक परे गाढ़े, एक ढाढ़त ही काढ़े, एक

देखत हैं ठाढ़े, कहे “पावक भयानो” ॥

चौथी शैली है उपदेश देने वाले सूक्तिकार कवियों की, जिसमें सन्त कवियों ने भी अपनी अटपटी बानी को भी शुद्धबद्ध किया है। तुलसी की

(४) दोहा पद्यति

दोहावली के अन्तर्गत अधिकतर दोहे वे हैं जो “रामचरित मानस” आदि में किसी न किसी स्थल पर आ चुके हैं, “चातक चौतीसी” भी इसी के अन्तर्गत है, जिसमें

प्रेम का वह वास्तविक स्वरूप दिखलाया गया है जो भगवद्भक्ति का प्राण है। कितनी अनन्यता, कितना भरोसा, कितना अभिमान और कितनी स्वार्थहीनता है। वह तृषा बुझाना नहीं चाहता, वह प्रेम में व्याकुल रहना चाहता है:—

“चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पियै न पानि ।

प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटेगी आनि ।”

उसका सा याचक और मेघ का सा दानी विश्व में कोई दूसरा नहीं है क्योंकि—

“देत जो भूभाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि ॥”

गोस्वामीजी का “रामचरित मानस” जिस शैली में रचा गया, वह शैली इतनी भाग्यशालिनी थी कि उसका अपर ग्रंथ जन-जन को कंठस्थ

(५) दोहा-चौपाई पद्धति है, किन्तु मानस के अनंतर या तो उसमें रचना हुई ही नहीं और यदि हुई भी तो वह महत्वपूर्ण न थी। प्रबन्ध-वाच्य की इतनी क्षमता शायद अन्य किसी पद्धति में न थी। जायसी ने जिस शैली में सफलता प्राप्त की, उसी शैली में तुलसी का नाम अमर हो गया। दोनों की शैली एक है, दोनों की भाषा एक। अन्तर है केवल संस्कृति का। तुलसी की भाषा अधिक संस्कृत है और जायसी की नितांत प्रामाण्य। मधुरता दोनों में है किन्तु एक में मणि का सा सौन्दर्य और दूसरी में गुंजा की सी शोभा। जायसी में जहाँ—

बरनौ माँग सीस उपराहीं । सेंदुर अबहि चढ़ा जेहि नाहीं ॥

बिनु सेंदुर अस जानहु दोआ । उजियर पंथ रैन मँह कीआ ॥

कंचन रेख कसौटी बसी । जनु घन मँह दामिनि परगसी ॥

शृ गार के वर्णन में मिलता है; वहाँ तुलसी में—

सुकृत सभु तन विमल विभूती । मंजुल मगल मोद प्रसूती ।

जन-मन-मंजु मुकुट-मल-हरनी । किए तिलक गुन गन-बस-करनी ॥

की छटा सर्वत्र छाई हुई है।

इस भौत हम यह देख चुके कि गोस्वामीजी ने इस बात का सफल प्रयत्न किया है कि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने वाला जो कोई पाठक

उनकी रामकथा को पढ़े, उसे पूर्ण संतोष मिले; यही कारण है कि विद्वानों के भिन्न-भिन्न समुदाय गोस्वामीजी की रचनाओं का अपने-अपने अनुसार सकल और पूर्ण अर्थ निकाल सकते हैं। जो लोग “भूसन बिन न बिराजई”, कविता वनिता मित्त” वाले सिद्धान्त को मानते हैं, वे “रामचरित मानस” में ही एक से एक सुन्दर अलंकारों के उदाहरण खोज सकते हैं (अलंकारों के मौर्दर्य के लिए “अलंकार” शीर्षक परिच्छेद देखिए), दूसरी ओर जो लोग केवल वि.....हाव (आभूषणों के बिना स्वाभाविक शृंगार) को ही अपने हृदय में स्थान देते हैं उन्हें भी निराश न होना पड़ेगा। इसी भाँति जो काव्य में छंद का भी कुछ महत्व मानते हैं उनके लिए ही मानो गोस्वामीजी ने रसानुकूल छंदों का प्रयोग किया है। किन्तु जो लोग जनता की भाषा और लोक की प्रतिदिन की घटनाओं को ही कविता का प्रगतिवाद मानते हैं वे मन बहलाने के लिए “रामलला नहछू” पढ़ लें। अस्तु गोस्वामीजी साहित्य के आचार्य थे, आचार्य ही (केशव के समान) नहीं एक अपूर्व सहृदय कवि भी थे; न कोई रस बचा है, न अलंकार; न कोई भाषा, न शैली। उनकी साहित्यिक प्रतिभा अपूर्व है।

अब गोस्वामी जी के धार्मिक समन्वय पर आते हैं। यों तो उस समय हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्म प्रचलित थे और कोई भी सुधारक सभी

धार्मिक समन्वय

धर्मों की एकता का शंखनाद कर सकता था, किन्तु हमारे अमर भक्त कवियों ने ऐसा न किया—तुलसी और सूर भगवत्स्वरूप के उस स्तर तक पहुँच चुके थे, जहाँ दूसरे “मजहब” पहुँचने का स्वप्न ही नहीं देख सकते। जायसी ने जो अपनी प्रेमभरी बूटी यहाँ वालों को पिलाई उसमें कभी कभी तो ऐसी गंध आने लगती है मानो कोई सुन्दरी रमणी रसिक पाठक से कह रही हो कि “मुसलमान हो जाओ तब मैं तुम्हारी हो सकती हूँ,” या उसका “इश्क़दद” अकबर की उस हिन्दू-मुसलिम-एकता का समर्थन करता है जिसमें स्वार्थ की इतनी प्रचुरता है कि फिर सम्हालने का समय ही नहीं रहता, नहीं तो “चित्तउर भा इसलाम” कहकर अपनी कथा समाप्त करने वाला वह “एकै नयनाहाँ” वाला कवि अपने काव्य में कोई ऐसा संदेश

अवश्य छोड़ जाता जिससे हम जैसे हृदयहीन समालोचक भी उसको 'दुइ बोल' सँवारते (स्मरत कर लेते)। कबीर ने जो धार्मिक समन्वय जनता के सामने रखा वह "टोक-पीट कर वैद्यराज" बनाने का सा प्रयत्न है, निषेध बहुत है विधि कम। किन्तु तुलसी ने पहिले उस समय की धार्मिक परिस्थिति को समझा, शायद वे समझ गये होंगे कि हिन्दू-मुसलिम एकता संस्कारों को न समझने का असफल प्रयत्न है नहीं तो वे अकबर के दरबार में अवश्य "माननीय मन्त्री समाज-सुधार" (Hon. Minister for Social Welfare) हो जाते, उन्होंने केवल हिन्दू धर्म को ही व्यवस्थित करने का सफल प्रयत्न किया।

उस समय हिन्दुधर्म में दो प्रधान सम्प्रदाय चल रहे थे—एक वैष्णव और दूसरा शैव। प्रायः इन दोनों में वैमनस्य भी रहता था और धार्मिक

वैष्णव-शैव एकता

अवसरों और स्थानों पर दुर्घटनाओं का हो जाना एक साधारण बात थी। तुलसीदास ने सर्वदा इन दोनों की एकता का प्रयत्न किया है। स्वयं रामायण में अनेक स्थलों पर राम को शिव का और शिव को राम का उपासक दिखलाया है। रामभक्त होते हुए भी उन्हें "जहँ बस संभु-भवानि, सो काषी" से विशेष प्रेम है। विष्णु के पदचिह्न से निकलने वाली गंगा को अपने जटाओं में रखना शिवजी का भक्तिपूर्ण कर्म है; उधर सभी शुभ अवसरों पर शिवजी की स्तुति राम की शिव के प्रति भक्ति दिखलाती है। सीता स्वयं अभीष्ट वर की प्राप्ति के लिये पार्वती की सेवा-पूजा करती हैं:—

“जय जय जय गिर-राज-किसोरी। जय महेश-मुख-चंद-चकोरी ॥

×

×

×

नहि तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहि जाना ॥

×

×

×

देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। मुर-नर-मुनि सब होहि सुखारे ॥”

उधर स्वयं राम ही अपने मुख से शिवभक्ति का महत्व बतलाते हैं:—

“शिव-द्रोही मम दास कहावा।

सो नर मोह सपनेउ नहि भावा ॥”

शिवजी ने तो स्वयं पार्वतीजी को परम पात्र समझकर ही राम कथा का अधिकारी बनाकर उनको रामकथा सुनाई थी:—

“रामचरित-मानस मुनि-भावन । विरचेउ शंभु सुहावन पावन ।

×

×

×

रवि महेश निज मानस राखा : पाह सुममइउ सिवा सन भाखा ।”
उन्होंने कथा का प्रारंभ भी शंभु के स्मरण द्वारा ही किया है:—

“मुमिरि भवानी शकरहि, कह कवि कथा सुहाइ ।”

इस भाँति हम देखते हैं कि तुलसी के इस समन्वय का जनता पर इतना प्रभाव पड़ा कि उत्तरी भारत में शैवों और वैष्णवों में वह वैमनस्य कभी न देखा गया जिसके कारण दक्षिण भारत में अनेक अनर्थ हो चुके हैं ।

धार्मिक समन्वय का दूसरा रूप है धर्म के तीनों अंगों—ज्ञान, कर्म और उपासना—का ठीक ठीक स्थान नियत करते हुए उनके महत्व का विवेचन । भारत में जब से धार्मिक हास हुआ महात्माओं ने इन अंगों की मात्रा को बिलकुल भुला दिया; प्रायः एक दल एक ही अंग पर अधिक बल देता था और दूसरों की व्यर्थता सिद्ध करता था । ब्राह्मणों ने जब कर्मकाण्ड को महत्व देते-देते उसे अपने स्वार्थ का साधन बना लिया, तो प्रतिक्रिया स्वरूप बौद्ध और जैन धर्म उठ खड़े हुए जिन्होंने यज्ञ आदि का निषेध किया, उनके आविर्भाव का क्या फल हुआ इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है; क्या किसी को कभी यह आशंका थी कि भगवान् बुद्ध के अनुयायी एक दिन “अलख जगाते” फिरेंगे ? कबीर ने कर्मकाण्ड को कोई महत्व नहीं दिया । हाँ सूर की गोपियाँ, यद्यपि ज्ञानमार्ग को अपने योग्य नहीं मानती, फिर उसका महत्व स्वीकार करने में उन्हें कोई विशेष आपत्ति नहीं—उन्हें करना ही क्या, हो तो अच्छा, न हो तो और अच्छा—परन्तु धर्म के उस मध्यवर्ती अंग कर्म का तो कहीं नाम ही नहीं । गोस्वामीजी ने “रामचरित मानस” के उत्तरकाण्ड में ही सही, इन समस्याओं पर गंभीरता से विचार किया है:—

**धर्म के तीन अंग—
ज्ञान, कर्म और
उपासना**

“नेम धर्म आचार तप ज्ञान जज्ञ जप दान ।”

× × ×

सद्गुरु वेद वचन विश्वासा । संजय यह न विषय कै आसा ॥

× × ×

विमल ज्ञान जल जब सो नहाई । तब रह राम भगति उर छाई ॥

× × ×

स्तुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं । रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥

× × ×

बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ विराग बिनु ।

भावहि वेद पुरान, सुख कितहिं हरि भक्ति बिनु ॥”

सारांस यह हो सकता है कि गोस्वामीजी सुख के लिए भगवद्भक्ति आवश्यक समझते हैं क्योंकि हरिभक्ति के बिना सुख नहीं मिल सकता; भक्ति का साधन ज्ञान है, यह एक साधन है जिससे हम भक्ति साधन को प्राप्त कर सकते हैं; ज्ञान प्राप्त करने के लिए संतसमागम, जप, तप अध्ययन आदि बातें हैं । इस प्रकार सबसे ऊँचा स्थान रहा भक्ति का किन्तु अन्य अंग भी छोड़े नहीं गये, वे भक्ति प्राप्त करने के मार्ग हैं ।

ज्ञान का एकमात्र उपयोग यही है कि हम उस परम तत्त्व को समझ लें और उसे प्राप्त करने के साधन भी समझ लें ।

यहाँ प्रसंगवश यह भी देख लेना चाहिये कि ज्ञानमार्ग के दार्शनिक सिद्धान्तों में से गोस्वामीजी को कौनसा प्रिय है; वे किसका प्रतिपादन करते हैं और किसका खण्डन । ग्रंथों के मनन से पता लगता है कि स्थान-स्थान पर आपने अद्वैतवाद, द्वैतवाद और विशिष्टा द्वैतवाद तीनों का ही समर्थन किया है; उनको वाद-विवाद में पड़ना ठीक नहीं लगता, क्योंकि ज्ञान का अपना तो कोई मूल्य है नहीं वह तो केवल भक्ति का साधनमात्र है । अद्वैतवादी “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या” वाले सिद्धान्त को मानते हैं, अम के अतिरिक्त

सब माया है, भ्रम है, झूठा है। गोस्वामीजी ने इस ओर अनेक स्थलों पर संकेत किया है:—

“रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानुकर-वारि।

जदपि मृषा तिहुँकाल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि ॥”

अद्वैतवाद

“सोवत सपने सहे, संसृति-संताप रे।

बूझी मृगवारि, खायो जेबरी को सर्पि रे ॥”

“कहि न जाइ मृगवारि सत्य, भ्रम तें दुख होइ बिसेखे।

सुभग सेज सोवत सपने बारिधि बूडत भय लागै।

कोटिहुँ नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै ॥”

ये सब दृष्टान्त अद्वैतवाद के ही त्यों हैं। संसार भ्रम है, माया है। अज्ञानी सोते हुए के समान है। सीप में रजत, रज्जु में सर्प, सूर्य की किरणों से जल का अभ्रम जिस प्रकार भ्रम है, उसी प्रकार संसार भ्रम है—इसके सारे सम्बन्ध झूठे हैं।

विशिष्टाद्वैत चित् और अचित् दोनों की सत्ता मानता है। चित् के २ रूप हैं परमात्मा और जीवात्मा। ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण भी है

विशिष्टाद्वैतवाद

और उपादान कारण भी। गोस्वामीजी ने इस मत का भी कई स्थलों पर समर्थन किया है:—

“आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव नभ जल थल वासी।

सीया राममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग बानी ॥

×

×

×

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।

जो गोचर महँ जहँ लगि जाई। सो सब माया जानहु भाई ॥

माया ईश्वर आपु कहँ, जानि कहै सो जीव ॥

अर्थात् जो अपने को “माया” और “ईश्वर” इन दोनों से पृथक् जानता और रहता है वह “जीव” है। यहाँ ब्रह्म, माया, और जीव तीनों को अलग अलग बतलाया है।

अब गोस्वामीजी के उस प्रसिद्ध पद को देखिये, जिसपर विद्वान् दार्शनिकों का बड़ा मत-भेद है:—

“केशव कहि न जाय का कहिए ‘

देखत तब रचना विचित्र अति समुक्ति मनहि मन रहिए ।

×

×

×

कोउ कह सत्य, मूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने ।

तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम तब आपन पहिचाने ॥”

(इसका पूरा अर्थ आगे “टीका” में देखिए)

कवि ने माया की विचित्रता को दिखलाया है। संसार की स्थिति भी है या इसकी प्रतीति केवल भ्रम से हो रही है ? इसमें विद्वानों के ३ मत हैं। कुछ लोग इसे नित्य तथा सत्य मानते हैं, अद्वैतवादी इसको नितान्त मिथ्या मानते हैं, और विशिष्टाद्वैतवादी इसे सदसत् मानते हैं—सत्य भी है और असत्य भी। अब तुलसीदास जी का क्या मत है ? अंतिम पंक्ति को देखिए ‘जो तीन भ्रम परिहरै, सो आपन पहिचाने’। कौन से तीन भ्रम ? ये ही तीनों वादविवाद उत्पन्न करने वाले विचार ! इन सब विचारों को छोड़कर ‘आपन’ पहचानो, अर्थात् हम बात का विचार करो कि जगत् में मेरा क्या है; क्या मैं और मेरा कहते हुए ही कल्याण हो सकता है यह सोचो।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि गोस्वामीजी ज्ञान का क्या महत्त्व समझते हैं। उनके यहाँ दार्शनिक विवादों में पड़ना भी एक “भ्रम” है [यूरोप के एक दार्शनिक से, जो संदेहवाद—प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व में संदेह है—का समर्थक था, पूछा गया था कि ‘क्या आपको संदेह में भी संदेह है (Do you doubt the doubt ?)'] अस्तु केवल उतना ज्ञान ही पर्याप्त है जिससे यह ज्ञात हो जावे कि—

“मैं मम, मोर तोर यह माया”।

तभी वैराग्य की उत्पत्ति हो सकती है और फिर भगवान् में रुचि बढ़ेगी जो कि भक्ति की निसेनी (सीढ़ी) है।

यह गोस्वामीजी का धार्मिक समन्वय हुआ जिसमें स्थान तो सभी महत्वपूर्ण मतों और सिद्धान्तों को मिल गया किन्तु पंडित बनने के लिये नहीं केवल अपने को पहिचानने के लिये।

अब हम गोस्वामीजी के सामाजिक समन्वय पर आते हैं। कुछ लोगो का विचार है कि गोस्वामीजी एक सुधारक थे कवि पीछे। यह सिद्धान्त

सामाजिक समन्वय

ठीक नहीं; हाँ इतना अवश्य मानना चाहिये कि उनको मर्यादा का सर्वदा ध्यान रहता था।

वे अपने इष्टदेव के चरित को आदर्श जानकर ही उनपर अनुरक्त हुए थे और दूसरो को भी इसीलिए इधर आकर्षित करना चाहते थे। सामाजिक नीति के अंतर्गत उन्होंने राजनीति आदि की ओर भी संकेत किया है कि तुल्य रूप से, प्रधानतः तो वे सामाजिक पुनरुत्थान के पक्षपाती थे। सामाजिक-संगठन में वे वर्णाश्रम प्रथा के कट्टर पक्षपाती हैं, क्योंकि और दूसरा उपाय ही क्या था। किन्तु वर्णाश्रम प्रथा को वे कर्त्तव्य-विभाजन के रूप में मानते हैं। कलियुग का वर्णन करते हुए उन्होंने इसी वर्णाश्रम प्रथा का हास दिखलाया है। कलियुग में सभी लोग अपने कर्त्तव्यों को छुड़कर

वर्णाश्रम प्रथा

पापों में रत हैं, उनको सुख नहीं मिलता, वे पेट के दास हैं, अनेक प्रकार के पाप करते हैं, तीर्थों

में आडम्बर और बनावट का ही साम्राज्य है। ईश्वर भी उनके इस पतन के कारण उनसे अप्रसन्न है और भौंति-भौंति के कष्ट देता है। स्वयं वाराणसी में भी अनेक कष्टों का अवतार हो गया है। कवितावली से उदाहरण देखा :—

(क) “आश्रम बरन कलि-बिबस विकल भय,

निज-निज मरजाद मोटरी सी डार दी।

कलियुग

संकर सरोष महामारि ही तैं जानियत,

साहिब सरोष दूनी दिन-दिन दाररी।

नारि-नर आरत पुकारत, सुनै न कोउ,

काउ देवतनि मिलि मोटी मूठि मार दी ॥”

(ख) “खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,

बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ॥”

(ग) ऊँचे-नीचे करम धरम अधरम करि,

पेट ही को पचत बेचत बेय, बेटकी ॥”

अर्थात् सर्वत्र मनुष्य अपने कर्त्तव्यों से च्युत होकर धर्म छोड़ चुके हैं, उनको करने को काम नहीं है, भूल से व्याकुल हैं, इसलिए अपने बेटे-बेटियों को बेच देते हैं, सब दुःखी होकर चिल्लाते हैं, फिर ऊपर से महामारी का कोप है जान पड़ता है स्वयं भगवान् ही कुपित हो गये हैं ।

यह तो हुआ धर्महीन जनता की दशा का वर्णन । अब रामराज्य की संपन्नता और समृद्धि देखिए । “रामचरित मानस” के उत्तरखंड में तुलसी ने

रामराज्य

आदर्श समाज का मनोहर चित्र खींचा है । जलाशय का एक सुन्दर चित्र देखिए और ऊपर वाले काशी के चित्र से उसकी तुलना कीजिए :—

“तीर-तीर देवद्व के मंदिर । चहुँदिसि जिनके उगवन सुन्दर ॥
कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी । बसहि ज्ञानरत मुनि सन्यासी ॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई । वृन्द-वृन्द बहु मुनिन लगाई ॥
पुर सोभा बहु वरनि न जाई । बाहिर नगर परम बचिराई ॥

रमानाथ जहँ राजा, सो पुर वरनि कि जाइ ।

अनिमादिक सुख संपदा, रही अवध सब छाई ॥”

इस भाँति एक ओर रामराज्य और दूसरी कलियुग के चित्र उपस्थित करके कवि ने दुःखी जनता को भगवद्-भाक्ति द्वारा सुख की विधि बतलाकर

धर्म स्थापना

आश्रम तथा वर्ण के अनुसार अपने-अपने कर्त्तव्य में लग जाने का उपदेश दिया है । यदि साधारण कर्त्तव्यों पर ध्यान दिया जावे तो सारा “रामचरितमानस” ही इसकी निधि है । भाई-भाई, पति-पत्नी, माता-पुत्र, राजा-प्रजा, पिता-पुत्र, मित्र-मित्र के पारस्परिक क्या कर्त्तव्य होते हैं, इस प्रश्न का उत्तर “रामचरितमानस” के अतिरिक्त और कौन दे सकता है ? वस्तुतः यदि व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो धर्म-संस्थापन—पारस्परिक कर्त्तव्यों का आश्रम, वर्ण तथा अवस्था आदि का अनुसार निर्वाह—के द्वारा तुलसी ने जनता को सुख का एक अपूर्व सदेश दिया है, जिसके बिना आज ३०० वर्ष बीत जाने पर भी देश में सुख-समृद्धि नहीं हो सकती ।

किसी अज्ञात समालोचक ने सूर, तुलसी और केशव की तुलनात्मक आलोचना करते हुए कहा था:—

“सूर सूर तुलसी ससी, उद्गगन केशवदास ।”

तुलसी और केशव

कदाचित् इसी के उत्तर में या इसी के साथ अपना मत देने के लिए ही दूसरे समालोचक ने

कहा था:—

“कविता करता तीन हैं, तुलसी, केशव, सूर” ।

दोनों को मिलाइए। सूर-तुलसी-केशव और तुलसी-केशव-सूर। तुलसी और केशव का स्थान तो निश्चित है कि पहिले तुलसी और फिर पीछे केशव; किन्तु सूर के विषय में वाद-विवाद है, ऊपर हम काफी देर तक सूर और तुलसी के झगड़े पर बात कर चुके हैं। अब तुलसी और केशव की तुलना कीजिए। दोनों ही ने कई कई पुस्तकें लिखी हैं, किन्तु आलोचक न जाने क्यों “रामचरित मानस” और “रामचन्द्रिका” की ही तुलना किया करते हैं। कहते हैं कि एक दिन केशव तुलसी से मिलने गये किन्तु तुलसी वहाँ न थे, आचार्य जी समझे कि एक कितबिया लिखकर इसे घमण्ड हो गया है, फिर क्या था रात में बैठकर “रामचन्द्रिका” घसीट डाली। इस घटना में यह निश्चय हो सकता है कि केशव ने “रामचरितमानस” को देखकर, उसकी ख्याति सुनकर उसके अनुकरण पर अपनी “रामचन्द्रिका” लिखी। अतः यह भी निश्चय है कि तुलसी के साथ केशव की तुलना करते हुए प्रत्येक व्यक्ति तुलसी को अवश्य ही बड़ा बतलावेगा। अस्तु अब हम दोनों कवियों को एक नये दृष्टिकोण से देखते हैं।

केशव के लिए “आचार्य” और तुलसी के लिए “महाकवि” कहना बहुत ही उपयुक्त है, क्योंकि एक में अभिमान है, पांडित्य है, ओज है,

आचार्य केशव

उत्साह है, दूसरे में नम्रता है, पांडित्य का प्रदर्शन नहीं, स्वाभाविकता है समर्पण है। यद्यपि केशव ने

तुलसी के समान अनेक शैलियों में भगवत्कथा नहीं लिखी—उनका उद्देश्य भगवत्कथामृत का प्रवाह न था, वे केवल अपने पांडित्य का प्रदर्शन चाहते थे—फिर भी उनका सभी छन्दों पर सफल अधिकार था और “रामचन्द्रिका” की कथा को उन्होंने इसीलिए अनेक छंदों में लिखते हुए कहा है :—

“रामचन्द्र की चन्द्रिका नरनत हौं बहु छंद” ।

किन्तु दो-चार उदाहरण लिखने का अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि
अमक व्यक्ति का उस छन्द पर पूर्ण अधिकार है। तुलसी ने जिम शैली को

छंद

अपनाया है उसमें पूरी कथा लिखी है और रसानु-
कूल पद-परिवर्तन करते हुए रसाभिव्यक्ति को सफल
बनाया है। यह मानते हैं कि “रामचन्द्रिका” में कई—बहुत से ऐसे छन्द
हैं जिनकी हवा भी तुलसी के ग्रन्थों को नहीं लगी, फिर भी सफल आचार्यस्व
तुलसी का ही माना जावेगा क्योंकि केशव ने केवल छन्दों के उदाहरण भर
दिये हैं उनका सफल प्रयोग नहीं कर दिखाया—ग्रन्थ रूप से नहीं किया।

आचार्यत्व के दूसरे अङ्ग भाषा और अलंकारों के विषय में भी वही
पुराना तर्क याद आ जाता है। केशव की भाषा बुन्देलखण्डी से प्रभावित

भाषा

व्रज भाषा है, तुलसी का एक अङ्ग है व्रजभाषा।
और फिर जहाँ तुलसी संस्कृत की कोमल-वति-
पदावली का प्रयोग करते हैं, वहाँ केशव संस्कृतगर्भित श्रोजपूर्ण व्रजभाषा का।
तुलसी में प्रसाद और माधुर्य हैं केशव में श्रोज। अस्तु अन्तर भाषा का न
होकर गुण का है। केशव वीर रस और श्रोजगुण में अधिक सफल हुए हैं—

पदौ, विरंचि मौन वेद, जीव सोर छंडि रे ।

कुबेर बेर कै कही, न जच्छ भीर मंडि रे ॥

दिनेस जाह दूरि बैठि नारदादि संगही ।

न बोलु चन्द मंद बुद्धि, हन्द्र की समा नही ।

तुलसी का अधिकार जितना माधुर्य पर है उतना श्रोज पर भी (भाषा
का उदाहरण आगे देखिये)। जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है केशव

अलंकार

“भूपन विन न विराज हो कवित्ता वनिता मित्र”
के सिद्धान्त को मानने वाले थे और अपनी
चन्द्रिका में उन्होंने अलंकारों की निराली छटा का प्रदर्शन किया है “राम-
चन्द्रिका” के कुछ उदाहरण तो हिन्दी साहित्य में अद्वितीय हैं:—

(क) परिरंखया —

मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाहय ।

होम-हुताशन-धूम नगर एकै मलिनाहय ॥

(ख) अपन्हूनि—

उड़त पराग न, चित्त उड़ावन ।

भ्रमर भ्रमर नहि, जीव भ्रमावत ॥

(ग) उपमा—

दिय काट्यो ज्यों जीरन दुकूल ।

संस्कृत साहित्य के विद्वान जानते हैं कि इन अलंकारों में संस्कृत की कितनी परम्परागत छाया है, फिर भी इनके प्रयोग में मौलिकता जैसी कम्पनीयता है। तुलसी के अलंकारों पर हम आगे विचार करेंगे; यहाँ केवल इतना ही अभिष्ट है कि तुलसी के प्रसिद्ध अलंकारों के अनिश्चित शेष अलंकारों के कुछ उदाहरण दिखला दिये जाय :—

(क) परिसंख्या—

दड जतिन कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज ।

नीतौ मनमिज सुनिय अम, रामचन्द्र के राज ॥

(ख) अपनुति—

मैं जो कहा खुबीर कृपाला । बधु न होइ मोर यह काला ॥

(ग) पूर्णोपमा—

साधु चरित सुभ सरिस कृपासू : निरस बिसद गुन मय फल जासू ॥

तुलना करने पर यह जान पड़ेगा कि केशव के उदाहरणों में अधिक चमत्कार है और तुलसी के उदाहरणों में कम, किन्तु बात ठीक ऐसा ही नहीं। तुलसी का उद्देश्य चमत्कार प्रदर्शन न था इसलिए केवल उन अर्थालंकारों को छोड़कर, जिनसे उनको विशेष प्रेम है और जो उनकी भावाभिव्यक्ति में सहायक होते हैं, तुलसी ने अन्य का प्रयोग कम किया है और उनके उदाहरण अधिक अच्छे नहीं बन पड़े हैं। अस्तु जहाँ अलंकारों का व्यापक सम्बन्ध है केशव चमत्कार में बढ़कर निकलते हैं किन्तु यदि विशेष अलंकारों के सौन्दर्य को तोला जाये तो तुलसी का उन पर पूर्ण अधिकार दिखाई देता है।

आलोचकों ने तुलसी के “रामचरितमानस” और केशव की “रामचन्द्रिका” का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए प्रबन्ध निर्वाह की दृष्टि से

प्रबंध निर्वाह

केशव को पूर्णतः असफल घोषित कर दिया है (दे०—वर्ध्यावाल लिखित रामचन्द्रिका की भूमिका) । दूसरी ओर गोस्वामीजी की सफलता का एक प्रमुख कारण उनकी प्रबन्ध-कल्पना और प्रबंधनिर्वाह की अद्वितीय क्षमता ठहराई गई है (दे०—रामचन्द्र शुक्ल कृत “तुलसी ग्रन्थावली”) । किस स्थल पर किस व्यक्ति को किस दृष्टिकोण से देखना चाहिए, यह गुण जिस निरीक्षण में होगा—जो देश, काल और पात्र की मर्यादा का ध्यान रखकर काव्य रचना करेगा वह निश्चय ही माना जावेगा । उदाहरण के लिए रामकथा में जितने मनोहर दृश्य उनमें से एक दृश्य है सीता-राम-लक्ष्मण के बन जाने का । दो सुकुमार राजकुमार और एक कोमलांगिनी राजकुमारी पैदल ही अकेले वन को चले जा रहे हैं; इसके हृदय में कौतूहल की उत्पत्ति न होगी ! और कुर्सी पर बैठकर आफिस में काम करनेवाले बाबूलोग तो कदाचित् होंगे कोई शरणाधीन कहकर उनको टाल ही दें, किन्तु भोले-भाले ग्रामीण लोगों के लिए इससे अच्छा और क्या तमाशा हो सकता है ! बात करने में संकोच न करने में कौतूहल !! एक ने देखा, दूसरे को भी दिखाया । आपस में अपनी अपनी कल्पना करने लगे । चाहते हैं कि हम इनकी कुछ सहायता—नहीं, नहीं, सेवा कर सकें । और फिर यदि वे पथिक कहीं भगवत्स्वरूप ही हों तब तो फिर मानो सब लोग साथ चलने को ही तैयार हो जावेंगे (यहाँ हमें यूरोप के उन पादरियों का ध्यान आजाता है जो भारतीय वस्त्रादि पहनकर भोले ग्रामीण लोगों को अपनी ओर कौतूहल से आकर्षित कर ईसाई धर्म का प्रचार किया करते थे) । तुलसी ने न जाने इस पर कितना लिखा होगा :—

(१) “सजनी हैं कोऊ राजकुमार ।

पंथ चलत मुहु पद-कमलनि दोउ मील-रूप-आगार ॥

(२) “बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही ।

गए जो पथिक गोरे साँवरे सलोने,

सखि ! संग नारि मुकुमार रही ॥

(३) पूछति ग्रामवधू सिय सौं “कहौ साँवरे से सखि ! रावरे को हैं ?”

(४) “कोटि मनोज लजावन हारे । सुमुखि ! कहौ को अहैं तुम्हारे ?”

वस्तुतः कितना सात्विक स्नेह है । इस अवसर पर अधिक बातें नारियों के

द्वारा कहीं गई हैं, इसलिए भोलेपन की मात्रा उन में और भी बढ़ जाती है। केशव ने भी इस स्थल का वर्णन किया है, किन्तु उसमें उनका रूपापन टपकता है। मार्ग में मिलने वालों के प्रश्न, एक आलोचक के मत में, ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे किसी पुलिमवाले की रिपोर्ट लिखी जा रही हो :—

“कौन हौ किततें चले, कित जात हौ, केहि काम जू।

कौन की दुहिता, बहू, कदि कौन की यह वाम जू॥”

देखनेवालों को यह भी संदेह है कि यह स्त्री उन्हीं की है, या किसी दूसरे की है और ये अपने मार्ग हो आये हैं। आगे यही बात साठ शब्दों में कह दी है :—

“किधौं यह राजपुत्री, वगहीं वगयो है किधौं,

उदि वग्यौ है यदि सोभा अभिरत हो॥”

ऐसे ही वर्णनों में केशव में निरीक्षण का अभाव और सहृदयता की कमी बतलाई जाती है।

अरुल्लन्दरवार से रहने वाले केशव पचाहे और कोई गुण अधिक मात्रा में न मिलता है यह सब मानते हैं कि उनके कथोपकथन हिन्दी में प्रद्वितीय होते हैं। राजकुल और राजदरवार की मर्यादा का तुलसी को ध्यान नहीं रहता है और अंगद के मुख से वे रावण के दरबार में ही उसे गालियाँ सुनवा देते हैं :—

“मैं तब दान तोरिवे लायक”

केशव को राजदरवार का अनुभव था अतः वे सदा औचित्य का ध्यान रखते हैं, जो कुछ कहना हो उसे बक्ता और व्यंग्य से कहते हैं :—

“कैसे बंवाय ?” “जो सुन्दरि नेरी लुई दग मावत, पातक लेखो॥”

इस गुण में वे तुलसी से बढ़कर निकलते हैं। किन्तु केशव के प्रकृति चित्रण को आलोचकों ने बड़े आड़े हाथों लिया है (यहाँ उस पर अधिक नहीं लिख सकते, क्योंकि हमारा आलोच्य विषय तुलसी है, केशव नहीं।) और

प्रकृति-चित्रण

उसे हृदयहीन कह दिया गया है; किन्तु हम इस कथन से ज्यों के त्यों सहमत नहीं। अवश्य ही उनके कुछ चित्र अधिक आकर्षक नहीं, और तुलसी की उनसे समता नहीं हो सकती, क्योंकि उनका प्रेम मानवता से अधिक है ; प्रकृति से कम।

इस भाँति तुलसी और केशव का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए हम इस तत्व पर पहुँचते हैं कि तुलसी का व्यापक क्षेत्र उनकी सार्वभौतिक सहानुभूति और सूक्ष्म निरीक्षण का द्योतक है, आचार्यत्व की दृष्टि से भी उनका स्थान बहुत ऊँचा है; केशव में ओज गुण, दरबारी मर्यादा और उद्धतपन अधिक हैं, वे कृष्ण और कोमल रसों का अधिक सफल चित्रण नहीं कर सकते प्रकृति चित्रण में जितना मज तुलसी का रमता है उतना केशव का नहीं। तुलसी में व्यापकता, गंभीरता और सूक्ष्मदृष्टि है केशव में नहीं।

अंत में खड़ी बोली के प्रसिद्ध कवि और आधुनिक काल के अद्वितीय रामचरित लेखक श्री मैथिलीशरणजी गुप्त के साथ भी गोस्वामीजी की तुलना कर लेनी चाहिए। गुप्तजी की अनेक पुस्तकों में यदि तुलसी की किसी पुस्तक की तुलना में कोई ठहरती है तो वह “साकेत” है। कुछ भ्रमालोचक “साकेत” को खड़ीबोली का “रामचरित मानस” कहते हैं। यह मत्थ है कि दोनों में लगभग एक ही कथा को लेकर काव्यरचना की गई है, किन्तु दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। “रामचरितमानस” के चरित नायक भगवान राम और भगवती सीता “साकेत” के एक कोने में पड़े हुए हैं और लक्ष्मण तथा उर्मिला नायक और नायिका के रूप में हमारे सामने आते हैं। सीता में कोई विशेष सम्बन्ध न होने के कारण सीता-हरण, राम-गंगण-युद्ध आदि घटनाओं की केवल व्यंजना भर कर दी गई है, इसलिए सारी घटनाओं का केन्द्र अयोध्या (साकेत) ही रहा है, इसलिए इस ग्रंथ का नाम भी “साकेत” रखा गया है। जिस उर्मिला का “रामचरितमानस” में नाम भी नहीं, उसकी ही कथा इस सारे ग्रंथ में है; नवम सर्ग केवल उसकी युगों से संचित विरहवेदना का मानो स्फोट कर रहा है। इस दृष्टि से जहाँ तक कथानक की बात है आधिकारिक कथाओं का दोनों काव्यों में कोई विशेष संबंध नहीं। शैली तो भिन्न है ही, यह एक बार देखने पर ज्ञात हो जाता है। हाँ, साहित्यिक सौन्दर्य अवश्य तुलना का एक आधार हो सकता है, क्योंकि ये दोनों ग्रंथ दोनों कवियों के साहित्यिक परिपाक के उदाहरण हैं। गुप्तजी ने नवम सर्ग में तो जितनी चामत्कारिता का आश्रय लिया है, उतना कदाचित् अभीष्ट न था;

उसमें रीतिकालीन कवियों जैसी दौड़ धूर अवश्य आगई है, वह रमणीयता नहीं आ पाई जो तुलसी के काव्य में है। वस्तुतः, यह तो हम ऊपर कह चुके हैं, कि, सीता का विरह एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ विरह वर्णन है क्योंकि उसमें उद्वेग नहीं, विश्वास है, संतोष है और आशा है; दुःख न हो, व्याकुलता न हो, ऐसा नहीं; उसमें दिखावा नहीं; व्यंजना अधिक है, कथन कम। उर्मिला में ये बातें नहीं, वह मानो उन्मत्त प्रलाप कर रही है, मानो उसके हृदय की आग अब उसके अधिकार में नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सीता का विरह मर्यादा का आगाँव है, उर्मिला का विरह साधारण नारी का विरह है जिसमें आदर्श की आवश्यकता ही नहीं—दुःखों में रोते रोते पृथ्वी और आकाश एक कर देना और मुख में फूलें न समाना—यह तो महानता का लक्षण नहीं।

(५) साहित्यिक समालोचना

प्रस्तुत अध्याय में हम इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि गोस्वामी तुलसीदास के काव्यों के साहित्यिक सौन्दर्य का पूर्ण अध्ययन हो सके।

प्रस्तुत संकलन

यथाशक्ति इस बात का ध्यान रखा जायगा कि जो उदाहरण दिये जायें वे प्रस्तुत संकलन में ही हों। प्रस्तुत संकलन में “रामचरित मानस” को पूर्ण रूपेण छोड़ दिया गया है; प्रधानतः “विनयपत्रिका”, “गीतावली”, और “कवितावली” से ही सम्बन्ध रखा गया है; क्योंकि आलोचनात्मक दृष्टिकोण से “दोहावली” और “बरवै रामायण” का कोई विशेष महत्त्व नहीं। “रचना” शीर्षक अध्याय में हमने “बरवै रामायण” का परिचय देते हुए यह बतलाया था कि इसमें कुछ अलंकारों का सुन्दर चमत्कार अवश्य है; अन्य कोई विशेषता नहीं; यह पुस्तक कदाचित् रहीम के “बरवै नायिकाभेद” को देखकर लिखी गई होगी, वैसे तो “बरवै” श्रवणी का अपना कोमल रसोपयुक्त छंद है। इस पुस्तक के अन्तर्गत अलंकारों के जो उदाहरण आये हैं उनपर आगे इसी अध्याय में विचार करेंगे। “दोहावली” में अधिकतर दोहे नाति के हैं, किन्तु “चातक चौतीसी” का अपना व्यक्तिगत महत्त्व है; इस पुस्तक में

चातक और मेघ के सम्बन्ध द्वारा भक्त और भगवान् के सम्बन्ध की व्यंजना के लिये 'अन्योक्ति' अलंकार का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। चातक मेघ को

चातक का प्रेम

अनन्य प्रेम करता है, यह नहीं कि उसे एक स्वाति नक्षत्र पर विश्वास न हो और अनेक मेघों से भी याचना करे, संसार के सामने वह दीन नहीं है वह स्वाभिमानी है; वह दीन है केवल एक के सामने और वह है उसका प्रियतम मेघ। इसी भाँति भक्त को भी भगवान् का अनन्त भरोसा और अपरिमित विश्वास होना चाहिये; वह संसार के सभी या दूसरे—देवता या मनुष्य—लोगों के सामने दीन न बने, उसमें स्वाभिमान हो और अनन्य दृढ़ता हो; तुलसी ने अन्यत्र भी कहा है—“राम नाम को भरोसो चाहि को भरोसो है”। भक्ति का यह गुण जिस भक्त में नहीं है वह भूत-प्रेतों की पूजा करने वालों के समान “वेस्या केरा पुतरा, कहै कौन लो बा” वाली कबीर की उक्ति को कुतार्थ करता है! उसे न जीवन से शान्ति मिलेगी न मरने पर सुख। चातक का प्रेम का दूसरा गुण हम आत्माभिमान कह चुके हैं, चातक माँगता नहीं और कृतज्ञ होकर कुछ स्वीकार नहीं करता; उसे क्या करना है मेघजल का, वह तो अपने नियम निभावेगा रट लगाने का और यदि मेघ दया करके दान भी कर देगा तो क्या चातक शीश झुकाकर उसे स्वीकार करेगा ? नहीं, वह आपका एहसान नहीं मानेगा मेघराजः—

“नहिं जाँचत, नहिं संग्रही, सीस नाइ नहिं लेह ।”

स्वीकार वह करता अवश्य है किन्तु क्या सिर झुकाकर, नहीं उद्धत बनकर—अपने आत्माभिमान से फूला न समाकर। यही तो उसका “मानी”—यन है। चातक आज तुम्हारी इच्छा पूरी हुई आज जितना चाहो जल मिल जावेगा, इकट्ठा कर लेना भविष्य के लिए; फिर प्यासे रहोगे किन्तु क्या चातक संग्रह करेगा ? नहीं, वह संग्रह नहीं चाहता, संत भी संग्रह नहीं करते—

“आगे-पीछे हरि खड़े, जब माँगे तब देंह ।”

(कबीर)

यह भगवद्भक्ति का तीसरा गुण है जब हम इतना अधिक भरोसा करते हैं कि सर्वदा के लिये निर्द्वन्द्व होकर घूम सकते हैं। चातक के प्रेम में

संसार की वेदना भरी पड़ी है; वह अपनी तृषा से व्याकुल होकर मेघ के सम्मुख अपनी दीन पुकार नहीं भेजता; वह दुःखी दुनिया का दीन प्रतिनिधि है, अतः जब मेघ ने दान दिया तो चातक ने कितना लिया केवल एक घूँट और शेष जल प्यासी पृथ्वी को मिल गया। यह चातक के प्रेम की चौथी विशेषता है जिसमें स्वार्थ की गंध एक प्रकार से ही नहीं; संसार की ज्वाला से पीड़ित होकर वह अपने प्रिय से प्रार्थना करता है; और धन्य है रे प्रिय, तू कितना देता है; और, धन्य रे याचक, तूने कितना लिया ? केवल एक घूँट !! यही तो भक्तों का आदर्श होना चाहिए:—

“तुलसी चातक माँगतो एक, एक घन दानि।

देत जो भूभाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि।”

चातक के प्रेम की पाँचवी विशेषता है प्यास को सदा बनाये रखना, यह प्यास प्रिय से मिलाने का साधन है, इसमें आत्मशुद्धि होती है और जगत् का कल्याण होता है; यदि यह मिट गई तो प्रिय का स्मरण कैसे होगा, संसार का रम क्या उपकार कर सकेंगे और आत्मशुद्धि कैसे होगी। कबीर ने भी इस प्यास पर बड़ा जोर दिया है:—

“हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोइ।

हाँसी-खेलैं प्रिय मिलैं, कौन दुहागिनि होइ॥”

(कबीर)

भक्तकाल के अन्य कवियों ने भी इस “प्यास” को महत्व दिया है; तुलसी भी “आनि” के लिये इसका रहना आवश्यक समझते हैं:—

“प्रेमतृषा बाढ़ति भली, घटे घटेगी आनि।”

इस भाँति हम देखते हैं कि “दोहावली” का प्राण “चातक चौतीसी” है जिसमें मेघ और चातक की अन्योक्ति द्वारा भगवद्भक्ति का स्वरूप समझाया गया है। अनन्यता, पूर्ण भगोसा, आत्माभिमान, लोक कल्याण, और प्यास का सातत्य—ये इस प्रेम की विशेषताएँ हैं। तुलसीदास जी लोक कल्याण का सदा ध्यान रखते हैं, हृदय में प्रकाश होने से बाहर भी उसका उजियाला होना चाहिये ऐसा उनका आदर्श मत है:—

“राम-नाम मणि दीप घरि, जीह देहरी-द्वार।

तुलसी भीतर बाहरो, जो चाहत उजियार।”

अब “विनयपत्रिका”, “गीतावली” और कवितावली” के दृष्टिकोण से तुलसी की संक्षिप्त आलोचना करते हैं। यह तो हम पहिले कह ही चुके हैं कि ये तीनों पुस्तकें ब्रजभाषा की हैं। इनकी भाषा न तो सर की भाषा के समान शुद्ध ग्रामीण है और न देशव की भाषा के समान ओजपूर्ण। “विनयपत्रिका” में पहिले ६० पदों की भाषा इतनी संस्कृत गर्भित हो गई है कि कभी समझने में भी कठिनाई होती है, केवल दो-एक संज्ञा और कुछ क्रियाओं को हम हटा दें तो उसे संस्कृत कहने में किसी को संकोच न होगा। वस्तुतः जहाँ किसी की स्तुति होती है वहाँ तुलसी की भाषा ऐसा शुद्ध-संस्कृत रूप धारण कर ही लेती है; “रामचरित मानस” में भी यही बात देखने को मिलती है और “विनयपत्रिका” में भी। विनयपत्रिका के एक उदाहरण में भागवान् राम की संस्कृत भाषाऽलंकृत स्तुति देखिये:—

**विनयपत्रिका के
प्रारंभिक छंद**

“उरसि बनमाल सुविशाल, नवमञ्जरी,
आज श्रीवत्स - लांछन, उदारम्।
परम ब्रह्मण्य, अति धन्य गतमन्य अज,
अमित बल विपुल माहमा अपारम्।”

किन्तु आगे चलकर भाषा में सरलता आ गई है और किसी किसी पद में तो, भले ही तत्सम पदों का बाहुल्य हो, संयुक्त वर्ण बहुत ही कम मिलते हैं। उदाहरण के लिये गोस्वामी जी के उस प्रसिद्ध दार्शनिक-विवाद-ग्रन्थ पद को देखिये:—

“केसव कहि न जाइ का कहए ?

देखत तत्र रचना विचित्र अति समुष्म मनहि मत रहिए ?

सून्य भीति पर चित्र, रंग नाहि, तनु बिनु लिखा चित्तेरे।

धोए मिटै न, मरै भीति दुख पाइय इहि तनु हेरे।”

सारे पदों में कोई संयुक्त वर्ण नहीं है, न कोई पद ठेठ ग्रामीण है प्रायः अधिकतर शब्द अपने तत्सम रूप में आये हैं; किन्तु “केसव”, “दुख”

**सामान्य भाषा
का रूप**

आदि तद्भव शब्द भी हैं। प्रसाद गुण के लिये ‘तव’, ‘रचना’, ‘विचित्र’, ‘भीति’, ‘तनु’, ‘रंग’ आदि शब्दों को देखिये। विनयपत्रिका की

साधारण भाषा का यह सामान्य स्वरूप है। जहाँ भावों की गम्भीरता है—
दीनता, विनय आदि में—और किसी दार्शनिक तथ्य को शास्त्र प्रचलित
शब्दावली से नहीं समझना होता है, वहाँ यह उनकी बँधी हुई भाषा
शैली है:—

(१) “मोहि मूढ मन बहुत बिगोयो ।

याके लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख पोयो ।”

(२) “मैं हरि पतित पावन सुने ।

मैं पतित तुम पतित पावन, दोउ बानक बने ॥”

अतः विनयपत्रिका की सामान्य भाषा सरल संस्कृत पदावली से युक्त होती
हुई भी संयुक्ताक्षरों से रहित होती है। हाँ, जहाँ किसी दार्शनिक सिद्धान्त
का विवेचन होगा, वहाँ स्वभावतः कुछ समास भी आ जावेंगे और
दृष्टान्तों के साथ थोड़ी भी भाषा की कठनता भी आती जाती है, किन्तु
माधुर्य की क्षति नहीं होती:—

“माधव ! मोह फाँस क्यों छूटै ?

वाहर कोटि उपाय करिय, अभ्यतर-ग्रंथि न छूटै ।

घृतपूरन कटाह अन्तरगत ससि-प्रतिबिम्ब दिखावै ।

ईधन अनल जगाइ कलपसत औटत नास न पावै ॥”

इस भाँति हम देखते हैं कि “विनयपत्रिका” में कम से कम ३ प्रकार की
भाषा मिलती है। पहिली वह भाषा शैली जिसमें प्रारम्भिक लगभग ६०
पद हैं, स्तुति विषय होने के कारण संस्कृत शब्दों की बहुलता और संस्कृत
पदावली की ही मधुरता से प्रसाद गुण में कुछ बाधा सी पड़ने लगती है।
दूसरी सामान्य विनयपत्रिका की भाषा शैली है जिसमें सरल और मधुर
तत्सम शब्दावली में भावों की गम्भीरता लक्षित होती है; अधिकतर ऐसी
ही भाषा में लिखे गये हैं। तीसरी प्रकार की शैली केवल उन पदों में है
जहाँ किसी दार्शनिक विषय को लेकर शास्त्रीय पदावली और शास्त्रीय
दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है।

गीतावली में भी कम से कम दो प्रकार की भाषा शैली है। जहाँ
किसी वर्णन की प्रचुरता है वहाँ उस संस्कृतमिश्रित शैली के दर्शन होते हैं।

गीतावली की भाषा

जिसके विषय में हम ऊपर कह चुके हैं, अन्यत्र सरल प्रसादगुणपूर्ण ब्रजभाषा के। गीतावली में विनयपत्रिका की अपेक्षा तद्भव शब्दों की बहुलता है, विशेषतः मार्ग में जाते हुए सीता-राम लक्ष्मण को देखकर आपस में वार्त्तालाप करने वाली नारियों की भाषा में। चित्रकूट के वर्णन में भाषा की तत्त्वमता देखिये:—

“सब दिन चित्रकूट नीको लागत ।

वरषा ऋतु प्रवेस विशेष गिरि देखत मन अनुरागत ॥

चहुँदिसि वन संपन्न, विहँग मृग बोलत सोभा पावत ।

जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित राजा सकल सुख छावत ॥”

और इस भाषा की तुलना ग्रामबधुओं की सरल और ग्रामीण भाषा के तद्भव रूप से कीजिए:—

“बहुत दिन बीते सुधि कछु न लही ।

गए जो पथिक गोरे साँवरे सलोने,
संग नारि सुकुमार रही ।

जानि पहिचानि बिनु आपु तैं आपुनेहु तैं,
पानहुँ तैं प्यारे प्रियतम उपही ॥”

एक दूसरे स्थान पर फिर वर्णन में भाषा का संस्कृत पदावली मिश्रित रूप देखिए:—

भूषन बसन बिलोकत सिय के ।

प्रेम-विवस मन, करि पुलक तनु, नीरजनयन नीर भरे पिय के ”

तुलसी और सूर की तुलना करते हुए हम इस पद की भाषा की विशेषताओं पर जो कह आये हैं उसे दुहराना नहीं चाहते। संक्षेप में गीतावली की भाषा के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह “विनय पत्रिका” की भाषा की अपेक्षा कम संस्कृत बहुला और तद्भव शब्द प्रचुरा है; फिर भी तुलसी की भाषा का सामान्य गुण प्रसाद और साहित्यिकता की ओर झुकाव—जो उनकी भाषा को सूर की भाषा से अलग करता है—इसमें पूर्णतः मिलता है।

[जिस प्रकार तुलसी का अनेक प्रकार की काव्य-शैलियों पर अधिकार था उसी प्रकार उनमें कई प्रकार की भाषा लिखने की भी सामर्थ्य थी। ‘कई

कवितावली में

प्रकार की भाषा' का अर्थ ब्रजभाषा तथा पूर्वी तथा पश्चिमी अवधी से नहीं है, प्रत्युत एक ही भाषा का रसानुकूल रूप परिवर्तन। उनके अन्य ग्रन्थों में यह बात उतनी स्पष्ट नहीं देख पड़ती जितनी 'कवितावली' में। संभव है 'कवितावली' का संग्रह ग्रंथ होना इसका कारण हो। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस ग्रन्थ में कवि ने अनेक रसों की सफल व्यंजना की है और उसने इस रसाभिव्यक्ति में भाषा-परिवर्तन द्वारा अपरिमित सहायता भी प्राप्त की है। हमारा तात्पर्य यह है कि कवि जिस रस के लिए जिस प्रकार की भाषा को परम सफल समझता है उसी का प्रयोग करता है और हम देखते हैं कि उसे इस काम में अपूर्व सफलता मिली है। सबसे पहिले उन रसों की लीजिए जो कोमल भावों के सूत्रक हैं। शृङ्गार, वरुण तथा शान्त कितनी मधुरता लिए आते हैं, भाषा ही इस बात की सूचना दे देगी:—

(१) 'राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातैं सवै सुध भूल गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥"

(२) पदकजनि मजु बनी पनहीं, धनुहीं सर पंकज पानि लिये।
लारिका संग खेलत डोजत है सरजू तट चौहट हाट किये ॥

(३) तन की दुति ग्याम मरारह लोचन कंज की मंजुलताई हरै।

अति सुन्दर सोऽत धूरि भरै, छवि भूरि अनंग की दूरि करै ॥

दमकै दै तयाँ दुति दामनि ज्यों, फलकै कल बाल विनोद करै।

अवधेस के बालक चार सदा, तुलसी-मन-मन्दिर में बिहरै ॥"

पथस छन्द में शृङ्गार की सुन्दर व्यंजना करने के लिए लजा द्वारा सीता के हृदय के प्रेम को अभिव्यक्त कराया गया है; दूसरे तथा तीसरे छन्द में वात्सल्य रस की मधुरता है। कोमल-कात-पदावली सानुस्वार व्यंजन (कंज, मजु, अनंग) आदि, अन्त्य व्यंजनों की आधिक प्रयोग, अनुस्वारांत पद—ये सब गुण मधुरता के ही द्योतक हैं।

यद्यपि रस में सर्वदा हृद्यता होती है इसलिए किसी विशेष रस को कोमल या कर्कश कहना ठीक नहीं, फिर भी जो रस कर्कश भावों का द्योतक होता है

कर्कश भरम

उसमें कर्कशता मानते हैं। भयानक, रौद्र, वीर आदि श्रोजगुण से शोभित होने वाले रस इसी उपाधि के अन्तर्गत रखे जावेंगे। ‘काव्यतावला’ में इन रसों की अभिव्यक्ति जिस प्रकार की भाषा द्वारा हुई है वह भी अपने ढंग की निराली और श्रोजगुण सम्पन्न है। तब रस का एक उदाहरण देखिए :—

“डिगात उर्वि अति गुर्वि, सर्व पन्वै समुद्र सर।

व्याल हपिर तेहि काल, विकल दिगपाल चराचर॥

दिग्गद लखरत, परत दसकठ मुखभर।

सुरविमान रिममानु, भानु संघाठत परस्तर॥

चौंने निराख संकर सहित, कोल कमल आह कलमल्यौ।

ब्रह्मांड खंड सियो चंड धुनि, जबहि राम सिवधनु दल्यौ॥”

स्वयं शब्दों से ही ऐसी ध्वनि उत्पन्न हो रही है मानो धनुष ही टूट रहा हो, ‘ब्रह्मांड, खंड, चंड’ की ध्वनि को देखिए, ऊपर रकार का मिश्रण, स्वर्ग की अभिव्यक्ति—ये सब बातें श्रोजगुण के लक्षण हैं और इसी हेतु वीर रस में सहायक होते हैं। आगे एक कवित्त में व्याकुलता की व्यंजना देखिए लका में जब आग लग जाती है तो नगरनिवासी कितने व्याकुल होकर अपनी जान बचाने का प्रयत्न करते हैं—

‘एक कहे पीत, एक कहे “काढ़ौ सौज”, एक

छोड़ि पानी पी कै कहे “बनत न आवनो।”

एक परे मारि, एक डाढ़त ही काढ़े, एक

देखत ही टाढ़े, कहे “गवक भयावनो।

तुलसी कहत एक “नीके हाथ लाए कपि,

आजहूँ न छाँड़े बाल गाल को बजावनो।

घाओ रे ! दुस्माओ रे ! कि बावरे ही रावरे, या

और आगि लागी, न दुस्मावै सिन्धु सावनो॥”

भाषा की पुरानी विशेषताओं के अतिरिक्त यह भी ध्यान से देखना होगा कि कवि ने कोमल रसों के लिए तो “सवैया” (विशेषकर “मत्तगयंद सवैया”) छन्द का ही प्रयोग अधिक किया है और कर्कश रस और भागे के प्रकाशन के लिए “कवित्त” तथा “छप्पय” आदि का। वीररस का एक

प्रसिद्ध उदाहरण भाषा और छन्द दोनों की इस विशेषता को स्पष्ट दर देगा—

“ओम्फरी की मोरी काँधे, आँतान की सेली बाँधे,

मूड के कमण्डलु, खपर किये कोरि कै ।

जोगिनी मुटुंग मुण्ड मुण्ड बनी तापसी सी,

तीर तीर बैठीं सो समरसरि खोरि कै ।

सोनित सो सानि-सानि गूदा खात सतुआ से,

प्रेत एक पियत बहोरि घोरि-घोरि कै ।

तुलसी बैताल भूत साथ लिए भूतनाथ,

हेरि हेरि हँसत है हाथ-हाथ जोरि कै । ”

“मुटुंग, मुण्ड, मुण्ड तथा मूड, कमंडलु, ओम्फरी, मोरी” इत्यादि के रेखांकित अक्षरों की कर्कशता पर विचार कीजिए । यद्यपि अंतिम दो चरणों में कुछ कोमल वर्ण भी आगये हैं किन्तु वे बाधक नहीं होते । “सोनित सो सानि-सानि गूदा खात सतुआ से” इतने चरण से ही वीभत्सता की पर्याप्त व्यंजना हो जाती है “सानि” और “गूदा” शब्द कितना घृणाजनक हैं । अब हास्य रस का एक उदाहरण लीजिए । यद्यपि सारी पुस्तक में इस रस का यही एक मात्र उदाहरण है फिर भी यह कितना सफल है :—

“विध्य के बासी उदासी तपोव्रतघारी मय बिनु नारि दुखारे ।

गौतम-तीय तगी तुलसी, सो कथा सुनि, मे मुनिवृंद सुखारे ॥

है हैं सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे ।

कौन्हीं भली रघुनायक जू, करुना करि कानन को पगु धारे । ”

यह हास्य शृङ्गार के सहारे खड़ा हुआ है, इसलिए इस छंद के दूरे तथा तीसरे चरण में वही कोमलता है । संपूर्ण छंद में रेखांकित अक्षरों की कोमलता पर ध्यान दीजिए और शृङ्गाररस के उदाहरण से तुलना कीजिए । अंत में शीतरस का एक उदाहरण दिखाकर इस विषय को पूरा करते हैं :—

“काम से रूप, प्रताप दिनेस से, सोम से सील, गनेस से माने ।

हरिश्चन्द्र से साँचे, बड़े विधि से, मधवा से महीप विषै-मुखसाने ॥

सुक से मुनि, सारद से वकता, चिरजीवन लोमस तैं अधिकाने ।

ऐसे भए तौ कहा लतुसी जु पै राजिवलोचन राम न जाने ॥

प्रथम चरण में तो लगभग सभी वर्ण मधुर हैं, शेष तीनों चरणों में भी रेखांकित वर्ण देखने योग्य हैं। इस बात पर ध्यान देना होगा कि कोमल रसों में कर्कश वर्ण आते अवश्य जाता है, किंतु कवि की यह विशेषता है कि ऐसे किसी भी वर्ण का प्रभाव वह, अन्य अक्षरों के बीच में रखकर, पूर्णतः मिटा देता है।

अस्तु “कवितावली” के भिन्न-भिन्न छंदों को देखकर हम इस बात पर पहुँचते हैं कि इस काव्य में कवि ने अनेक—लगभग सभी-रसों की सफल व्यंजना कराई है; और भिन्न-भिन्न रसों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा और भिन्न छंदों का प्रयोग किया है। इसीलिए हमको इस ग्रंथ में भाषा और छंदों की विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यह गुण कवि की अन्य रचनाओं में इतना नहीं पाया जाता। संभवतः इस ग्रंथ की इस विशेषता का एक प्रधान कारण यह है कि इसकी रचना समय-समय मुक्तक के रूप में हुई थी।

अब गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता के अलंकारों पर आते हैं। केशव से तुलसी की तुलना करते समय हम यह बतला चुके हैं कि तुलसी

अलंकार

“भूपन बिन न विराजई” कविता वनिता मित्त ।”

वाले आचार्य केशव के मिठात को तो मानने वाले प्रतीत नहीं होते, क्योंकि उनमें किसी भी प्रकार की साहित्यिक साम्प्रदायिकता नहीं थी; फिर भी कोई भी विद्वान् इसे स्वीकृत कर लेगा कि तुलसीदास के निम्न कथन में उनका अपना अनुभव और अध्ययन भी छिपा हुआ है :—

“आखर अरथ अलंकृत नाना । छंद प्रबन्ध अनेक विधाना ॥

भावभेद रसभेद अपारा । कवित दोष गुण विविध प्रकारा ॥”

उनको रस, भाव, अलंकार, गुण, दोष, छंद आदि का किसी भी आचार्य से अधिक ज्ञान था और उनका वे ठीक प्रयोग भी जानते थे। उनके काव्य में अलंकारों के इतने सुन्दर उदाहरण मिलते हैं कि हिन्दी के किसी भी छात्र को अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। हम यह भी कह चुके हैं कि तुलसी

को कुछ अलंकारों से विशेष प्रेम था और उन रसों के अलंकार तो उन्होंने अद्वितीय रखे हैं, शेष पर तो चलता हुआ हाथ दिखलाया है। दूसरी बात यह है कि गोस्वामीजी का काव्य दृष्टिकोण से श्रेष्ठतम ग्रंथ “रामचरितमानस” अलंकारों से जितना परिपूर्ण है उतने अन्य नहीं, “बरवै रामायण” में भी कुछ अलंकारों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। अब प्रस्तुत संकलन के अंतर्गत अलंकारों के कुछ सुन्दर उदाहरण देखिए।

(१) रूपक—जहाँ पर अप्रस्तुत (चन्द्र आदि) का प्रस्तुत (मुख आदि) पर आरोप किया जावे; वहाँ रूपक अलंकार होता है। तुलसी को इस अलंकार से बड़ा प्रेम है। “रामचरितमानस” के बालकांड में तो कुछ सांग रूपक ऐसे हैं जिनकी तुलना हिन्दी के अन्य किसी उदाहरण से नहीं हो सकती। गीतावली में कुछ छोटे छोटे सुन्दर रूपक मिलते हैं :—

(क) बात विनोद-मोद-मजुल-बिधु, लीला-ललित-जुनहैया ।

भूपति पुन्य पयोधि उमंग, घर-घर आनंद बधैया ॥

(ख) प्रबल पाय पति-साय-दुसह-दुव दाखन जरनि जरी ।

(ग) साँवर-रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन-कमल-कल-कलस रितौ, री ॥

(घ) हा धुनि-खगी लाज-पिजरी मर्ह राखि दिये बड़े बधिक हठि मौन ।

(ङ) विषिया परिनारि निसा-तहनाई सु राह परयो अनुरागहि रे ।

जम के पहरन दुख रोग वियोग बिलोकतहू न विरागहि रे ॥

इन उदाहरणों में प्रस्तुत “बाज-विनोद”, “लीला”, “पुन्य”, “पतिसाय”, “रूप”, “नयन”, “धुनि”, “लाज”, “विषिया”, “निसा”, आदि हैं और इनके ऊपर जिन अप्रस्तुतों का आरोप किया गया है वे क्रमशः “विधु”, “जुनहैया”, “पयोधि”, “दुसहदव”, “सुधा”, “कलस”, “खगी”, “पिजरी”, “पटनारि”, आदि ।

(२) उत्प्रेक्षा—तुलसी को उपमा से अधिक प्रेम न था, अतः रूपक के अनंतर दूसरा अलंकार, जो इन पुस्तकों में अधिक मिलेगा उत्प्रेक्षा है। गीतावली में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिल सकते हैं :—

(क) चहुँ दिसि वन संपन्न, विहँग मृग बोलत सोभा पावत ।

जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ॥

सोभित श्याम जलद मुदु घोरत धातु रंगमगे सुगनि ।

मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि ॥

जल-जुत विमल सिलनि भूलकत नभ, बन-प्रतिबिब तरंग ।

मानहुँ जग रचना विचित्र विलसति विराट अंग-अंग ॥

तीनों ही उदाहरण चित्रकूट वर्णन के हैं । इनमें बन की संपन्नता तथा सुन्दरता का सुन्दर चित्र खींचने का प्रयत्न किया गया है । प्रथम उदाहरण का विषय (अप्रस्तुत) “सुनरेस देस” एक साधारण अनुभव की वस्तु है, किंतु द्वितीय तथा तृतीय के अप्रस्तुत “आदि अंभोज” तथा “विराट अंग-अंग” हैं जिनकी कल्पना भर हो सकती है अनुभव नहीं ।

(३) संदेश—तुलसी की उत्प्रेक्षा प्रायः संदेश में अवसित हो जाती है । यह अलंकार दो-तीन अप्रस्तुतों से अधिक आगे इन पुस्तकों में प्रायः नहीं बढ़ा है :—

(४) “श्यामल गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि ! निरखु भरि नैन ।

बीच बधू बिधुवदनि बिराजति उपमा कहूँ कोऊ है न ॥

मानहुँ रति अतुनाथ सहित मुनि-वेष बनाए है मेन ॥

किधौ सिगार-मुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-वित-लैन ।

अद्भुत त्रयी किधौ पठई है विधि मग-लोगनिह सुख दैन ।”

(४) उपमा—इस यह अन्यत्र कह चुके हैं कि एक आलोचक के मत में तुलसी की—विशेषतः “रामचरितमानस” में—उपमाएँ “बड़ी असरदार” होती हैं । “कवितावली” में भी कुछ सुन्दर उदाहरण मिलेंगे :—

(क) कीर के कागर ब्यौ नृपचीर विभूषन, उषम अंगनि पाई ।

औध तर्ज मगवास के रुख ज्यौ, पंथ के साथी ज्यौ लोग लुगाई ।

राजिवलोचन राम चले तर्ज बाप को राज बटाऊ की नाई ॥”

प्रथम चरण में “नृपचीर” को “कीर के कागर” के समान, “औध” को “मगवास के रुख” के समान, और “लोग-लुगाई” को “पंथ के साथी” के समान माना गया है ।

(ख) लोचन-नीर कृपिन के घन ज्यौ रहत निरंतर लोचनन-कौन ।

(ग) देह, गेह, नेह जानु जैसे घन दामिनी ।

तृतीय उदाहरण में तो परंपरा प्राप्त अप्रस्तुत उपमान रखा हुआ है; किंतु द्वितीय में एक मौलिक उपमान रखा हुआ है।

(५) अन्य सादृश्य मूलक अलंकार—वरवै रामायण में तुलसी ने कुछ साधारण सादृश्यमूलक अलंकारों का भी प्रयोग किया है जो रीतिकालीन कवियों की भूलक सी दिखलाते हैं। प्रतीप, व्यतिरेक, पूर्वरूप, तद्गुण तथा उन्मीलित के उदाहरण देखने योग्य हैं :—

(क) प्रतीप— साधु सुमील सुमति सुचि सरल सुभाव ।
राम नीतिरत, काम कहाँ यह पाव ?

(ख) व्यतिरेक— सम सुवरन सुखमाकर सुखद न थोर ।
सीय अग, सखि ! कोमल, कनक बठोर ॥

(ग) पूर्वरूप— केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥

(घ) तद्गुण— सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत ।
हार बेलि पहिरावौ चंपक होत ॥

(ङ) उन्मीलित— चंपक-इरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ ॥

(६) कुछ अन्य अलंकार - तुलसी ने असंगति, अतिशयोक्ति, सहोक्ति तथा विभावना आदि के भी कुछ सुन्दर प्रयोग इस संकलन में किये हैं। ऐसे अलंकारों के उदाहरण थोड़े होने पर भी बहुत सुन्दर हैं :—

(क) असंगति—हृदय-घाउ मेरे, पोर रघुवीरै ।

(ख) अतिशयोक्ति—कनक कुधर-केदार, बीज सुन्दर सुरमनिवर ।
सींचि कामधुक धेनु सुवामय पय विसुदतर ॥

कैवल्य सकल फल कल्पतरु सुभ सुभाव सब सुख बरिस ।
कहि तुलसीदास रघुवंसनि तौ कि होहि तुव कर सरिस ॥

(ग) सहोक्ति—

गहि करतल, मुनि पुलक सहित, कौतुकहि उठाइ लियो ।
नृपगन-मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो ।
आकरष्यो सिय-मन-समेत हरि, हरष्यो जनक हियो ।
भञ्ज्यो भृगुपति गर्वसहित, तिहुँ लोक विमोह कियो ॥

(घ) विभावना—

जुगल बीच सुकुमारि नारि इक राजति बिनहि सिगार ।

(७) शब्दालंकार—यद्यपि तुलसी की कविता में शब्दालंकारों की कमी नहीं है तो भी हम यहाँ केवल उन उदाहरणों को रखेंगे जो “गीतावली,” “कवितावली” आदि में विशेष महत्त्व के हैं:—

(क) यमक—जहाँ पर एक शब्द दो बार भिन्न भिन्न अर्थ में—एक ही अर्थ में नहीं आते हैं, वहाँ यमक अलंकार होता है:—

(१) “रानी अजानी मैं जानी मदा”

(२) करत विसोक लोक कोकनद कोक-कवि

(३) जानकी जीवन जान न जान्यौ

(४) जोग भयौ जोग का वियोग नइलाल को ।

(ख) श्लेश—जहाँ एक शब्द एक ही बार आवे और उसके दो अर्थ हो वहाँ श्लेश अलंकार माना जाता है:—

(१) बिबिध वाहिनी बिलमति सहित अनन्त ।

जलधि सरिस को कहे राम भगवन्त ॥

टीका में हम यह दिखला चुके हैं कि इस छंद में रेखांकित शब्दों के दो-दो अर्थ हैं और एक अर्थ “गम” के साथ लगता है और दूसरा “जलधि” के साथ ।

(२) कुजन-पाल, गुन-वर्जित, अकुल, अनाथ ।

कहहुँ कृपानिधि राउर कस गुननाथ ॥

इस छंद में भी रेखांकित शब्दों के दो-दो अर्थ हैं ।

इस भाँति हम देखते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी इन पुस्तकों में भी अलंकारों का प्रयोग अधिकता से किया है । समानता के आधार पर रहने वाले अलंकार “गीतावली” और “कवितावली” में अधिक आ गये हैं, किन्तु “विनयपत्रिका” में इस प्रकार के अलंकारों की कमी है । ज्यों ज्यों भावों की गम्भीरता आती गई है, अलंकारों का कम प्रयोग है । शब्दालंकार तो थोड़े-से ही मिलते हैं ।

तुलसी के प्रकृति-चित्रण पर हमने तुलसी का केशव की तुलना करते हुए थोड़ा-सा विचार किया था; यहाँ उस विषय पर कुछ अधिक विस्तार

वर्णन

से विचार करना चाहते हैं। जैसा कि हमने कहा भी है “विनयपत्रिका” में तो प्रकृति-चित्रण के लिये कोई स्थान ही न था “कवितावली” में भी कवि ने अपने को मानव-जगत् तक ही सीमित रखा है; किन्तु “गीतावली” में अवश्य ही प्रकृति के सुन्दर चित्र मिल सकते हैं, विशेषतः “गीतावली” का चित्रकूट वर्णन आलोचकों को बहुत सुन्दर लगा है। कवि ने इस बात का प्रयत्न किया है कि पाठक हृदय में एक संश्लिष्ट चित्र खिच सके। यह चित्र वर्षाऋतु का है जब समग्र विश्व संतप्त ही दिखलाई पड़ता है; आकाश में तारागण

प्रकृति-चित्रण

नहीं होते परन्तु भूमि अवश्य शस्यश्यामला हो जाती है, प्रायः पथिक घर से बाहर नहीं निकलते किन्तु स्थान-स्थान पर जल में निवास करने वाले मंड़ूक आदि अवश्य निर्द्वन्द्व अपनी मधुर ध्वनि से कानन-गिरि को गुंजरित किया करते हैं। तुलसी ने चित्रकूट की सम्पन्नता और वर्षाऋतु जलधर आदि की कमनीयता उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा अंकित की है:—

“चहुँ दसि बन सपन्न, बिहस मृग बोलत सोभा पावत ।

जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ॥

×

×

×

सिखर परस बन घटहि, मिलति बग पाँति सो छवि कवि बरनी ।

आदि बराह बिहिर वारिधि मनो उठयो है दसन धरि धरनी ॥”

दूसरे स्थलों पर कवि ने रूप का भी सुन्दर चित्रण किया है। राम-रावण युद्ध के अनन्तर विजयी राम लक्ष्मण के साथ युद्धभूमि में सुशोभित

स्वरूप-वर्णन

हैं, शरीर पर स्वेद-बिन्दु भी हैं और रक्त के छींटे भी। आस-पास घायल वीर पड़े हुए हैं ! कितना सुन्दर दृश्य है !! गोस्वामी जी ने यहाँ भी “उत्प्रेक्षा” का ही आश्रय लिया है:—

“स्याम सरीर रुचिर सप्तसीकर, सोनित-कन बिच बीच मनोहर ।

जनु खद्योत निकर हरिहित-गन, आजत मरकत-सैल-सिखर पर ।

चायल वीर विराजत चहुँदिस हरषित सकल अञ्छ अरु बनचर ।

कुसुमित किसुक-तरु-समूह महुँ तरन तमाल विसाल विटप बर ॥”

यह हम ऊपर दिखा चुके हैं कि “कवितावली” में किस प्रकार भयानक और रौद्ररस के सफल चित्र तुलसी के हाथ से उतरे हैं। उनका “ओम्फरी की ओम्फरी काँधे” वाला वीभत्स का वह चित्र भी प्रसिद्ध है। हम उस बात को फिर न दुहरा कर अब “कवितावली” के कुछ और वर्णनों पर आते हैं।

द्वितीय अध्याय में हम यह कह चुके हैं कि “कवितावली” में तुलसी ने आत्मकथा और देशदशा दोनों की ओर थोड़ा-सा संकेत किया है। यह

कवितावली में आत्मकथा

मुकक ग्रंथ समय-समय पर बने हुये छंदों का संग्रह है, यह भी हम सिद्ध कर चुके हैं। इसके उत्तरकांड में “रामचरित मानस” के उत्तरकांड के समान अनेक बातें भरी पड़ी हैं, प्रायः उन बातों का कथा से कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मचरित के विषय में जो छंद लिखे गये हैं उनमें दीनता अत्यधिक टपकती है; संभव है यह भक्तिवश हो गया हो अन्यथा तुलसी बड़ी हीन अवस्था में थे, ऐसा मानना पड़ेगा। कुछ उदाहरण देखिए:—

(१) भलि भारत भूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै ।

(२) कसगात ललात जो रोटिन को, धरवात घरे खुरग खरिया ।

(३) हौं तो सदा खर कौ असवार, तिहारोई नाम गर्यंद चढ़ायो ।

(४) चाकरी न आकरी न खेती न बनिज भीख ।

जानत न कर कछु किसब कबारु है ॥

(५) जायो कुल मंगन, बभावनी बजायो मुनि,

भयो परिताप पाय जननी जनक को ॥

बारें तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,

जानत हो चारि फल चारि ही चनक को ।

(६) घूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ ।

(७) मेरे जाति पाँति, न चहौं काहू की जाति-पाँति

मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को ।

— छंदों से ज्ञात होता है कि तुलसी का जन्म किसी अञ्छे प्रतिष्ठित कुल

(ब्राह्मण वंश) में हुआ था; किन्तु जब इनका जन्म हुआ तो इनके माता-पिता को हर्ष न हुआ (किसी कारणवश—देखिए “जीवनचरित”) प्रत्युत दुःख हुआ । इनका बालकपन बहुत ही बुरा रहा और इनको दीन जीवन बिताना पड़ा, खाने-पहिनने का भी इनको सुख न रहा; शिक्षा की तो बात ही क्या थी ! फिर इन्होंने ज्ञानरहित मूर्खतापूर्ण जीवन बिताया, किन्तु भगवान् की कृपा से इनकी उन्नति हुई (तीसरा उदाहरण) । प्रारम्भ में जब ये सन्यासी हुए तो लोग इनको टिकने नहीं दे रहे थे; कोई इनको नीच जाति का बतलाता था कोई धूर्त; किन्तु इनको “रामनाम चिन्तामणि” की प्राप्ति हो गई थी और जाति का सम्बन्ध ये तोड़ चुके थे, लोगों की बुराई की इन्हें कोई चिन्ता न थी; उन्हें संसार की कोई चिन्ता न थी ।

इन बातों के अतिरिक्त जो अन्य बातें तुलसी के विषय में जानी जाती हैं उनमें दीनता, आत्मसन्तोष तथा ईश्वरपरकता ही अधिक दिखाई पड़ती है । उदाहरण के लिए ऐसी बातें कि मैं कुछ करता-धरता नहीं हूँ, न मुझसे कोई काम हो सकता है, मेरी कोई भी जाति-पाँति नहीं है, उनके सन्यासी जीवन की ही द्योतक हैं:—

- (१) “मेरे जाति-पाँति, न चहों काहू की जाति-पाँति,
मेरे कोऊ काम को, न हों काहू के काम को ।”
- (२) “चाकरी न आकरी न खेती न बनिज भीख,
जानत न करू कछु किसब कबार है ।”

अब “कवितावली” के अन्तर्गत देशदशा वर्णन देखिए । “रामचरित मानस” के उत्तरकांड में कलियुग की कुछ बातें गोस्वामी जी ने रखी हैं,

कवितावली में
देशदशा

उनमें भी देश दशा की छाया मिलती है; रावण द्वारा जगत् को पीड़ित करने के जो चित्र हैं उनमें भी उस समय की दशा की झलक है ।

किन्तु “कवितावली” के उत्तरकांड में कुछ ऐतिहासिक बातों का नामपूर्वक निर्देश भी मिलता है । महामारी का प्रकोप, विश्वनाथ की बीसी आदि ऐसी ही घटनाएँ हैं । उदाहरण देखिए:—

- (१) खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
 बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।
 जीविका - विहीन लोग सीन्धमान सोच-बस,
 कहैं एक-एकन सौं “कहाँ जाई, का करी ?”
- (२) पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
 अटत गहन - गन, अहन् अखेट की ।
 ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
 पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी ॥
- (३) बरन - धरम गयो, आस्रम निवास तब्यो,
 त्रासन चकित सो परावनो परो सो है ।
 करम उपासना कुवासना बिनास्थो, शान,
 बचन, विराग वेष जगत हरो सो है ।
 गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग,
 निगम नियोग ते सो केलि ही छुरो सो है ॥
- (४) बीसी विस्वनाथ की विधाद बढ़ो बारा नसी,
 बूझिए न ऐसी गति संकर-सहर की ॥
- (५) एक तो कराल कलि-काल सूल-मूल तामें,
 कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की ॥
- (६) वेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है ।

बने-विभाग न आस्रम-धर्म, दुनी दुख-दोष-दरिद्र-दली है ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में एक तो आश्रम-वर्ण-प्रथा की शिथिलता से उत्पन्न सामाजिक अव्यवस्था की ओर संकेत है; दूसरे बेकारी से उत्पन्न होने वाले आर्थिक संकट की ओर । लोग इतने गरीब हो गये थे कि अपने बालकों को बेच कर अपना पेट पालते थे; “धरम-अधरम” का तो वहाँ कोई प्रश्न ही न था क्योंकि पेट की समस्या प्रबल थी । किसी की समस्या में यह न आता था कि क्या किया जावे । लोगों में विद्वता न थी, इसलिए आडंबर की ही पूजा हो जाती थी । योग में मद में भूषने वाले भक्ति को भूल चुके थे और उनके मानस में विश्वास को कोई भी रेखा शेष न रह गई थी । इस भाँति

कलियुग का पूर्ण प्रताप था कि “मीन की सनीचरी” आ गई, काशी में महामारी फैल गई, जनता बिना काज मरने लगी। लोगों में अस्थिरता और व्याकुलता थी; किन्तु उपाय कोई भी न जानता था।

हम यह स्थलों पर कह आये हैं कि “गीतावली” “कवितावली” भी काव्यों की उस श्रेणी में आते हैं जिसे मुक्तक कहते हैं, और ये ग्रन्थ,

मुक्तक काव्य

कथा का आभास होते हुए भी, “रामचरित मानस” के समान प्रबंध काव्य नहीं है। प्रसंगवश

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मुक्तक क्या है और प्रबंधकाव्य से उसका क्या अन्तर है। प्रबंध काव्य रचना उस शैली का नाम है जिसमें किसी नायक के सारे जीवन या एक अंश को लेकर कथा का विस्तार इस ढंग से किया जावे कि उसमें, बाहर की सहायता लिए हुई भी नायक का चित्र सफलता पूर्वक उतारा जा सके। हमारा तात्पर्य यह है कि कवि को यह ज्ञान होना चाहिए कि इस कथा में कौन-कौन से स्थल अधिक रमणीय हैं और इसलिए किन-किन स्थलों का अति विस्तार से वर्णन होना चाहिए; किस घटना का वहाँ पर दिखाना अभीष्ट होगा वहाँ पर नहीं। यदि हम “रामचन्द्रिका” से बन गमन वर्णन पढ़ें तो देखते हैं कि राम कौशल्या को पतिव्रत धर्म का उपदेश दे रहे हैं; कितना अनुचित वर्णन है और कितना अवाञ्छनीय। इसी भाँति “कवितावली” में आत्मकथा, देश दशा, और गोपी-उद्धव-संवाद सम्बन्धी जो पद उत्तरकांड में आ गये हैं, वे कथा का मूल्य बढ़ाते नहीं घटा देते हैं। मुक्तक काव्य में कवि को स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वह अपनी इच्छा से किसी कथा के रमणीय स्थलों को चुन ले और उन पर लिखता हुआ चला जावे। कथा की छाया भले ही मिले, कथा की सावयवता नहीं मिल सकती। जहाँ तक छंदों का सम्बद्ध है, वे उस वर्णन विशेष के अनुकूल हों और स्वतः पूर्ण हों, ऐसी छोटी छोटी छंदों में जैसे चौपाई, मुक्तक काव्य सफल नहीं बन सकता; दोहा-सोरठा तथा बरवे में तो बहुत से मुक्तक हैं; पदों, कवित्त तथा सवैयों में तो बहुत से मुक्तक काव्य लिखे गये हैं। मुक्तक में कथा की प्रधानता न रहने के कारण वर्णन की प्रधानता रहती है, प्रायः प्रकृति के सुन्दर तथा संश्लिष्ट चित्र, भावों की सफल अभिव्यक्ति ऐसे काव्यों में अधिक मिलेगी। प्रबंध काव्य की अपेक्षा

मुक्तक में रमणीयता अधिक होती है क्योंकि प्रबन्ध काव्य में कथा का प्रवाह मनोरंजन करने में समर्थ होता है, मुक्तक में केवल प्रत्येक छंद का अपना आन्तरिक गुण ।

यह हम ऊपर दिखा चुके हैं (दे०—“रचनाएँ”) कि “कवितावली” तो मुक्तक काव्य है ही “कवितावली” को भी इसी भेणी में रखा जावेगा । यह समय-समय पर लिखे गये छंदों को संकलन है, जिसको या तो स्वयं गोस्वामीजी ने या उनके किसी शिष्य ने यह रूप दिया था । “गीतावली” और “कवितावली” की तुलना भी हम कर चुके हैं ।

विनयपत्रिका

(१) जागु जागु जीव जड़ जोहै जग-जामिनी ।

शब्दार्थ—जग-जामिनी=संसार रूपी रात्रि (यामिनी) । संसृति-संताप=संसार (संसृति) में उत्पन्न होने वाले दुःख ।

प्रसंग—महाकवि महात्मा तुलसीदास अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ “विनय-पत्रिका” में भगवान् के स्वरूप को न पहिचान कर संसार के भोग-विलास आदि विषयों में पड़े रहने वाले जीव को ईश्वरविषयक ज्ञान देकर चैतन्य बनाने के लिए कह रहे हैं ।

अर्थ—हे जड़ (मूर्ख) जीव ! (मैं तुझे बार-बार प्रेरित करता हूँ कि) तू (मोह रूपी अज्ञानात्मन निद्रा को छोड़ कर) जग जा, तू (अवश्य ही) अपने स्वरूप को पहिचान ले; और संसार रूपी इस रात्रि (जिसमें ज्ञान रूपी प्रकाश ही नहीं होता) को भी (अन्धकार पूर्ण) समझ ले । तू (इस संसार में होने वाले) देह सम्बन्धी (पुत्र, पुत्री आदि), गृह सम्बन्धी (पत्नी आदि) तथा स्नेह से उत्पन्न होने वाले (मित्र, परिचित आदि) सभी सम्बन्धों को उसी प्रकार (अस्थिर तथा असत्य) समझ ले; जैसे (आँख वाला व्यक्ति) बिजली और बादल के साथ को समझता है (यह साथ एक क्षण है, दूसरे क्षण नष्ट हो सकता है) । तू (अज्ञानाधिकार में डूब कर) सोया हुआ है और (अन्य सोने वालों के समान) स्वप्न में संसार के (मोह से उत्पन्न होने वाले वियोग, निन्दा, मान, अपमान आदि) दुःखों को सहता है । अरे ! (भोले-भाले) तू मृग तृष्णा के (असत्य केवल भ्रमजन्म तथा भ्रमात्मक) जल में डूब रहा है और जेबरी (के समान घ्रम से प्रतीत होने वाले) सर्प ने तुझे खा लिया है (वस्तुतः वहाँ कुछ भी नहीं है न जल न सर्प न संसार के सम्बन्ध) । वेद भी इसी बात को कहते हैं (कि आत्मज्ञान रूपी जागरण से स्वप्न के समान संसार रात्रि के दुःख मिटते हैं) और विद्वान (बुध) भी यही कहते हैं कि जो दुःख हम स्वप्न में पा रहे हैं, वह

जगने पर ही दूर हो सकता है, इस बात पर तू मन में समझ कर विचार कर । तुलसीदास कहते हैं कि तीनों प्रकार के दुःख (आधिभौतिक, आधि-दैविक तथा आध्यात्मिक) जगने (तथा ज्ञान प्राप्त करने) से ही दूर हो सकते हैं (किसी अन्य प्रकार से नहीं); और तभी सरल सुन्दर भाव से राम नाम में पवित्र प्रीति उत्पन्न होती है ।

टिप्पणी :—(१) मृगतृष्णा का जल—मरु भूमि में रेत पर सूर्य की किरणों के आने से विवर्तन (Refraction) द्वारा उत्पन्न होने वाला एक भ्रम यह होता है कि हिरण को दूर पर जल की लहरें दिखाई देती हैं, वह व्याकुल होकर उसी ओर जाता है किन्तु वहाँ पानी न था, हाँ देखने पर और आगे भी वैसा ही जल का आभास होता रहता है; इस प्रकार अज्ञानी मृग उस गर्मी में दौड़ लगाता रहता है । जिस प्रकार इस जल का कोई अस्तित्व ही नहीं, केवल भ्रम ही भ्रम है उसी प्रकार माया जग्य संसार भी ऐसा ही भ्रम है । यह अद्वैतवाद मानता है ।

(२) जेवरी को सर्प—अज्ञान से उत्पन्न होने वाला यह एक दूसरा भ्रम है । रज्जू को सर्प समझने वाला व्यक्ति भय से थर-थर भले ही काँपता रहे किन्तु जब तक यह न जान लेगा कि यह रस्सी है सर्प नहीं तब तक उसका भय दूर नहीं हो सकता । इसी प्रकार जब तक आत्मा अपने को जीव समझती है तब तक उसे भय रहता है और जब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, तब वह निर्मय हो जाती है ।

नोट—(१) इस पद में तुलसीदासजी के विचार अद्वैतवादियों से मेल खाते हैं ।

(४) ऐसी मूढ़ता या मन की ।

इस पद में महात्मा तुलसीदासजी भगवान् से यह प्रार्थना कर रहे हैं कि हे भगवान् यह मन तो बड़ा चंचल है, संसार की वस्तुओं को अस्थिर समझता हुआ भी उनमें रमा रहता है यदि आपकी ही कृपा हो तो यह विषयों से हट कर आपकी ओर आवे ।

इस मन की यह कैसी (आश्चर्यजनक) मूर्खता है कि (अपनी प्यास बुझाने के लिए) रामभक्ति रूपी गंगा (जो अटल तथा अनन्त है) को छोड़ कर ओस कण (के समान अस्थिर तथा अकिंचन सांसारिक विषयों)

की आशा करता है । (यह आशा वैसी ही जैसी कि) एक प्यासा चातक धूम्रसमूह को (भ्रम से) बादल समझ कर उससे अपनी प्यास बुझाने का प्रयत्न करे, किन्तु इस धूम्र में (पक्ष में, सांसारिक विषयों में) न तो शीतलता (या शान्ति) है और न जल है साथ ही साथ (एक दुःख की बात यह है कि) उस चातक (तथा जीव) को उस धूम्र (विषयों) में नेत्रों (ज्ञान) का कष्ट और हो जाता है—चातक को दिखाई कम पड़ेगा और विषयी की बुद्धि मंद पड़ जायगी । (मन की यह मूर्खता उस) श्येन पक्षी की मूर्खता के समान है जो पक्षी काँच की भित्ति में अपना स्वरूप देखकर (दूसरा पक्षी समझ कर उस पर) आक्रमण करता है किन्तु उसे अपना आहार (दूसरा पक्षी) तो मिलता नहीं, उलटा चाँच में चोट (छति) खा जाती है । हे कृपानिधि भगवान् ! मैं इस मन की कुचालों का आप से कहाँ तक वर्णन करूँ आप तो स्वयं ही सब बातें जानते हैं । हे प्रभो ! मेरे इस कठिन दुःख (मन की दासता) को दूर कर के आप अपने प्रण (कि आप सदा शरणागत की रक्षा करते हैं) की रक्षा कीजिए ।

टिप्पणी—(१) मन भ्रुव वस्तु (ब्रह्म) को छोड़ कर स्वभावतः अभ्रुव वस्तुओं की ओर दौड़ता है, यह कहने के लिए कवि ने ३ दार्शनिक दृष्टान्त लिए हैं :—

(क) प्यासे का श्लोकणों से आशा करना ।

(ख) चातक का धूम्र-पटल की ओर जाना ।

(ग) बाज पक्षी का भूख के कारण अपनी परछाई पर टूट पड़ना ।

(२) इस पद में “रामभगति सुरसरिता” कहने से रूपक है, और “कहँ लौं कहाँ कुचाल कृपानिधि” इत्यादि में अनुप्रास ।

(३) सभी विचारकों ने मन को परम प्रबल शत्रु माना है, और सभी भक्तों ने भगवान् से ही मन पर विजय प्राप्त करा देने की प्रार्थना की है । तुलसी ने भी मन का सामान्य रूप लिया है; अपने संयत मन को नहीं ।

केशव ! कहि न जाइ का कहिए ।

प्रस्तुत पद में महात्मा तुलसीदास यह बतलाते हैं कि भगवान् की लीला विचित्र है, भिन्न-भिन्न दर्शन अपना-अपना अलग मत रखते हैं इसलिए भक्तों

को चाहिए कि व्यर्थ के तर्क-वितर्क में न पड़ कर भगवान् का भजन ही करते रहें :—

हे केशव (इन्द्रियों के स्वामी भगवान्) (तुम्हारी लीला विचित्र है) कोई क्या कहे कुछ (निश्चय रूप से) कहा ही नहीं जा सकता । तुम्हारी इस विचित्र (सृष्टि की) रचना को देखकर और समझकर मन ही मन चुप रह जाना पड़ता है (क्योंकि हम उसका शब्दों में कथन कर ही नहीं सकते) । (यदि हम केवल अपने) इस शरीर को ही देखें तो (हमें दिखाई पड़ता है कि यह शरीर) शून्य की भीति (अन्य चित्र किसी ठोस भीति पर बनते हैं) पर बना हुआ एक चित्र है; यह (अन्य चित्रों से भिन्न) बिना रंगों (सामग्री) के बना है, यह शरीर रहित (निराकार ब्रह्म) चित्रकार ने (अन्य चित्रों के समान नहीं) बनाया है; (अन्य चित्र) धोने से (मिट जाते हैं) यह नहीं मिटता ; यह चित्र संसार के दुःखों से दुःखित होता है (अन्य चित्र नहीं होते) । (इन चित्रों में) मृगतृष्णा के जल में एक विकराल मगर (काल) रहता है जो यद्यपि सुख रहित है फिर भी उन चर तथा अचर प्राणियों को जो इस जल (माया) को पान करते हैं, खा लेता है (संसार के मगर न तो मृगतृष्णा के जल में रहते हैं और न सुखरहित होते हैं और न वे चर तथा अचर सभी को खा लेते हैं) । कोई कोई (दर्शन) इस संसार को सत्य बतलाते हैं (जैसा कि नैयायिकों का मत है), कोई कोई दर्शन इसको असत्य मानते हैं (जैसा ब्रह्मैतवादी कहते हैं) और कोई-कोई (जैसे सारंग्यशास्त्र) इसको व्यक्तरूप से सत्य और अव्यक्तरूप से असत्य मानते हैं । किंतु तुलसी का मत है कि यह सब थोथा तर्क है इसमें न पड़ना चाहिए, सो इन तीनों को भ्रम समझकर आत्मज्ञान के निमित्त भगवान् की भक्ति करता है, वही श्रेष्ठ है ।

द्विप्यणी—(१) अलंकार (क) “केशव” का अर्थ है इन्द्रियों के स्वामी; यहाँ यह शब्द इसी अभिप्राय के कारण प्रयुक्त हुआ है इसीलिए इसमें “परिकरांकुर” अलंकार है ।

(ख) “रग नहि, तनु बिनु लिखा” में कारण के बिना कार्य (चित्र बनना) हो रहा है इससे “विभावना” अलंकार है ।

(ग) “धोये मिटै न” में कारण होने पर भी कार्य नहीं होता, इसलिए “विशेषोक्ति” अलंकार है ।

(घ) “मकर” उपमान के कथन से ही “काल” उपमेय की प्रतीति होने से रूपकतिशयोक्ति है ।

(ङ) साधारण चित्र उपमान से इस चित्र उपमेय में कुछ अधिक विशेषताएँ होने से “व्यतिरेक” है ।

(२)—अंतिम पंक्ति के विभिन्न अर्थ करके तुलसी को विभिन्न मतों का समर्थक माना गया है । “तीन भ्रम” कौन-कौन से हैं ? “सत्य”, “भूँठ” तथा “जुगल प्रबल” वाले तीन दार्शनिक सिद्धांत, या अहं त्वं तथा तथा की पृथक्ता, या ब्रह्मा, जीव तथा प्रकृति की सत्ता ? इन्हीं उत्तरों पर दार्शनिक विभिन्नता होगी । अच्छा यही है कि इस पंक्ति का वह अर्थ लिया जावे तो प्रो० पन्त ने (और उनसे हमने) लिया है ।

(६)—माधव ! मोह फाँस क्यों टूटै ?

शब्दार्थ—कटाह = कढ़ाई (लोहे का एक बड़ा पात्र), कलपमत = शत कल्प तक (अनेक सदस्र वर्षों तक)

प्रसंग—प्रस्तुत पद में महात्मा तुलसीदास यह बतलाते हैं कि संसार के बन्धनों से छूटने के लिए जो उपाय किये जाय वे जान-बूझकर करना चाहिए क्योंकि बिना जाने कोई कार्य सफल नहीं होता । यह विवेक कि मोह प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए, केवल भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होता है अतः भगवद्भक्ति परम आवश्यक है

अर्थ—हे भगवन ! हमारी मोह का बंधन (संसार को सत्य समझ कर उसमें तल्लीन रहना) टूट नहीं सकता, क्योंकि यदि अनेक बाहरी उपाय किये जाय तो उनसे भीतरी (हृदय की) गाँठ नहीं खुल सकती (तात्पर्य यह है कि मन का अज्ञान दूर करने से ही माया-मोह दूर हो सकता है, शारीरिक साधनों से नहीं) । (भीतरी अज्ञान को दूर करने के लिए बाहरी उपाय आगे लिखे जाने दृष्टान्तों के समान हैं) जिस प्रकार यदि एक घी की कढ़ाई में चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ रहा हो उसे नष्ट करने के लिए कोई मूर्ख व्यक्ति उस घी को गरम करना प्रारम्भ कर दे और यथासंभव ईंधन

लगाकर अनेक सदस्य वर्षों तक उसे गरम करता रहे, तो क्या इस प्रकार वह चन्द्रमा के उस प्रतिबिम्ब को नष्ट कर सकता है ? अथवा (दूसरा दृष्टान्त लीजिए) यदि कोई व्यक्ति वृद्ध को कोटर (खोखार) में रहनेवाले किसी पक्षी को मारने के लिए उस वृद्ध को काट डाले, तो उस पक्षी का मारना संभव नहीं हो सकता । ठीक उसी प्रकार विषय-वासना में लीन रहनेवाले मन को शुद्ध करने के लिए शरीर को धी-धी कर शुद्ध करना भी विवेक ज्ञान साधन है क्योंकि इससे मन का शुद्ध नहीं हो सकता । यदि कोई व्यक्ति अनेक प्रयत्नों से वस्तीक (साँव के रहने का स्थान) को मारे तो उनसे सपने नहीं कर सकता (इसी भाँति शरीर की अपावनता को दूर करने से मन का अपावनता दूर नहीं हो सकता । (अतः संसार के माया-माह से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान की नितांत आवश्यकता है ; किन्तु) यह ज्ञान भगवत्कृपा के बिना प्राप्त नहीं हो सकता । अतः इस प्रकार संसार-सागर को पार करने के लिए जिस शुद्ध ज्ञान की आवश्यकता है वह केवल ब्रह्म और गुरु का कृपा कृपा से ही प्राप्त हो सकता है (इसलिए मुमुक्षु को भगवद्भक्ति में दृष्टावत्त रहना चाहिए) ।

टिप्पणा—(१) ससि-प्रतिबिम्ब ; तरु-कोटर तथा उरग वाला ये तान दृष्टान्त यह बतलाने के लिए दिये गये हैं कि बाहरी शारीरिक शुद्धि से मन का मैल नहीं कटता और यह विवेक कि मन का मैल किस प्रकार काटा जाय भगवत्कृपा से ही उपलब्ध होता है ।

(२) इस पद में गोस्वामी जी ज्ञान की मोक्ष का साधन मान रहे हैं और उनका मुक्तानुवाद प्रद्वैतवाद की ओर है । वे भक्ति को ज्ञान प्राप्ति का साधन मान रहे हैं ।

(३) “अभ्यन्तर ग्रंथि न दूटे” तुलना कीजिए—

“छिद्यते हृदय ग्रंथिः, भिषन्ते सर्वं संशयाः”—वेदान्त

“अभ्यन्तरग्रंथि” का अर्थ है हृदय में अज्ञानजन्य भौतिक वस्तुओं के प्राप्त मोह ।

(११)—कण्ठैक हौं यहि रहनि रसौगो—

शब्दार्थ—कर्म = कर्म ; खनन = श्रवण (कान) । यथालाभ = जो कुछ मिले ।

प्रसंग—महात्मा तुलसीदासजी इस पद में भगवान् के आदर्शभक्त का जीवन व्यतीत करने के लिए तादृश स्वभाव की याचना और कामना कर रहे हैं—

क्या कोई ऐसा समय भी आवेगा जब मैं इस प्रकार का (आदर्श) जीवन व्यतीत करूँगा (हे भगवन्, मेरी यही अभिनाषा है कि मेरा जीवन आप ऐसा ही बना दीजिए) । श्री भगवान् की कृपा से क्या मेरा स्वभाव संतों के जैसा हो जावेगा ? (मेरी कामना है कि मेरा स्वभाव भा ऐसा हो जावे) । मुझे जो कुछ मिल जाया करे उससे ही सर्वदा सतोष किया करूँ और किसी (व्यक्ति) से मुझे किसी बात की इच्छा न रहे । दूसरों के हित में निरंतर लगे रहने का नियम मैं मनसा, वाचा और कर्मणा निवाहता रहूँ (मैं मन में भा दूसरों का हित सोचूँ, वाणी से भी उसका कथन करूँ और सच्चात् कर्म भी मैं दूसरों के हित के करूँ) । दूसरों के दुःसह कठोर वचनों को कानों से सुनकर मुझे क्रोध की उबलाहट न जलना पड़े । मैं अभिमान (मान) से रहित होकर अपने मन को सम-शांत (मातापमान से समान; न मान से हर्षित, न अपमान से दुःखी) कर सकूँगा ; और दूसरों के गुणों का कथन करूँगा उनके दोषों का कथन न करूँगा । शरीर संबंधी पारी चिन्ताओं का त्याग करके सुख तथा दुःख का समान ही समझूँगा (न मुझे सुख में आनंदमान या अनावश्यक रसि होगी और न दुःख में व्याकुलता या पलायन होगा) । तुलसीदासजी कहते हैं कि हे भगवान् वह कौनसा दिन होगा जब मैं इस प्रकार का स्वभाव बनाकर जीवन व्यतीत करता हुआ अचल भगवद्भक्ति को प्राप्ति करूँगा ।

टिप्पणी—इस छंद में कितनी सरल भाषा में गोस्वामीजी ने इन गुणों को बतलाया है जिनकी एक भगवद्भक्त में नितान्त आवश्यकता है ।

नोट—छठवीं पंक्ति में “पर गुन नहि दोष कहौंगो” में “नहि” को अर्थ के लिए ‘दोष कहौंगो’ के साथ रखना चाहिए “पर गुन” के साथ नहीं ।

(२) **सुन मन मूढ़ सिखावन मेरो ।**

शब्दार्थ—सबेरो = शीघ्र ही ; बड़ेरो = बड़ा ; घनेरो = अधिक ।

प्रसंग—विनय पत्रिका के इस पद्य में गोस्वामी तुलसीदासजी अपने मन को यह समझा रहे हैं कि सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने को एक मात्र

उपाय भगवद्भक्ति है, इसे अनन्य भावना से सांसारिक विषयों को छोड़ कर तू राम की शरण जा ।

अर्थ—अरे मेरे (विषयों की ओर दौड़ने वाले) मूर्ख मन तू अब भी मेरी सीख मान ले कि (आज तक) किसी ने भी भगवान् के चरणों से अलग रहकर सुख नहीं प्राप्त किया है ; तू इस बात को शीघ्र ही समझ ले (तो अच्छा है) । सूर्य और चन्द्र विराट् भगवान् के दो नेत्र थे, जब से ये भगवान् से अलग हुए (वास्तव में सूर्य और चन्द्र तो विराट् भगवान् के सदा नेत्र हैं ही ये अलग हो ही नहीं सकते) सदा पर्याप्त दुःख पाते रहते हैं—ये रात-दिन (शून्य) आकाश में (मानो व्याकुल होकर) (शून्य में बिना किसी सफलता या आशा के) चक्कर काटते रहते हैं और वहाँ भी उनका प्रबल शत्रु राहु है (जो समय समय पर उनको ग्रस लेता है) । (इसी प्रकार) रांगानदी परम पवित्र मानी जाती है, उसका त्रिलोक में यश है, फिर भी जब से वह विष्णु भगवान् के चरणों से अलग हुई है तब से उसका नित्य बढ़ना (मानो व्याकुल होकर पिसना) आज तक (इतने दिन हो जाने पर) भी नहीं मिटा । वेद भी इसी बात को निस्संदेह कहते हैं कि भगवान् का भजन किये बिना (कोई भी) विपत्ति से नहीं छूट सकता । इसलिए हे मेरे मन, तुलसीदास कहते हैं कि, तू संसार की और सब आशाओं को छोड़कर भगवान् का अनन्य भक्त हो जा (यही मेरी सीख है) ।

टिप्पणी—अन्तर्कथा—(१) वेदों में सूर्य तथा चन्द्रमा को भगवान् के दो नेत्र कहा गया है । विराट् रूप भगवान् के ये दो प्रकाश देने वाले नेत्र हैं ।

(२) गंगा का जन्म विष्णु भगवान् के पद-नख से माना गया है । वहाँ से निकलकर वह संसार में बहती है ।

(३) कबहुँ मन विश्राम न मान्यो—

प्रसंग—इस पद में गोस्वामी तुलसीदासजी अपने मन के इष्ट पूर्ण प्रयत्नों का कथन करते हुए यह बतलाते हैं कि यह सदा व्याकुल ही रहता आया है कभी इसने उन प्रयत्नों से सुख नहीं प्राप्त किया :—

अर्थ—(भगवद्भक्ति के कारण) उत्पन्न होने वाले सहज (सरलता से प्राप्य) सुख को त्यागकर इन्द्रियों के इस विषयवासना रूपी जाल में चक्कर काटते हुए मेरे इस मन को कभी (क्षणभर भी) विश्राम (चैन)

नहीं मिला। यद्यपि विषयों के विषम जाल में उलझकर मेरे मन ने अनेक बार कठिन दुःखों को महा तब भी सब कुछ जानते हुए भी अशानी बनकर (यह जानते हुए कि विषयानुरक्ति से सुख की प्राप्ति नहीं होगी केवल उद्वेग ही बढ़ेगा) यह अपनी मूर्खतावश इन विषयों को नहीं छोड़ता। अनेक जन्मों में अनेक प्रकार के कर्मों को करते हुए मेरा चित्त कर्म रूपी कीच में (बुरी तरह) लिप्त हो गया है, अब इस मन की शुद्धि केवल ज्ञान रूपी जल से प्रक्षालन से ही हो सकती है अन्यथा नहीं; इसी बात को वेद और पुराण भी कहते हैं। किंतु मेरे मन ने तो कभी अपने द्वैतीय, अपने स्वामी अपने गुरु और अपने गुरु भगवान् की कभी अनन्य भाव से उपासना ही नहीं की, फिर इसको शांति कैसे मिल सकती है। यदि कोई व्यक्ति सारा जन्म तालाब ही खोदने में नितादे तो उसकी प्यास कैसे मिट सकती है (इसी भाँति जो मन संसार के विषयों के पीछे दौड़ता हुआ ही सारा समय बिता देगा वह भगवद्भक्ति द्वारा शान्ति प्राप्त करेगा)।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद में गोस्वामीजी ने यह बताया है कि मन सुख की इच्छा से एक विषय की ओर जाता है किन्तु वहाँ उसे सुख नहीं मिलता, फिर दूसरे विषय की ओर जाता है इस भाँति इन्द्रियों के पीछे विषयों में लिप्त होकर उसे केवल उद्वेग मिलता है, शांति नहीं।

(७) हे हरि यह भ्रम की अधिकाई—

शब्दार्थ—मूषा = असत्य ; मृगवारी = मृगतृष्णा का जल।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में गोस्वामीजी ने यह बतलाया है कि संसार में जो दुःख-सुख मिलता है वह केवल एक ही उपाय से मिट सकता है कि संसार की वास्तविकता को समझा जाय—कि संसार असत्य है—और यह ज्ञान भगवद्भक्ति और सत्संगति के बिना नहीं हो सकता।

अर्थ—हे भगवन्, यह मेरे हृदय के भ्रम का आधिक्य है कि यद्यपि मैं सब कुछ देखता हूँ, (कि संसार असत्य है, प्रतिदिन सभी लोग मरते चले जा रहे हैं) सुनता भी हूँ (कि संसार अनित्य है) (औरों से भी) कहता हूँ (कि संसार के विषय अनित्य हैं) और यही मैं समझता हूँ किंतु मेरा संशय (कि संसार नित्य ही है) और मेरा संदेह (कि संसार नित्य है अनित्य) नहीं मिटता। (मैं कहता हूँ कि) यदि संसार मिथ्या है तो

शारीरिक, मानसिक तथा अस्मिक ताप क्यों होता है ? (मैं यह नहीं समझता कि) मृगतृष्णा के कारण हरिण को दुःख होता है किंतु वह मृगवारि सत्य तो नहीं, वह केवल भ्रम ही तो है (इसी भाँति संसार दुःखदायी होते हुए भी असत्य है) भ्रम से अनेक कष्ट हो सकते हैं ।

(उदाहरण के लिए) एक व्यक्ति सुन्दर शय्या पर सो रहा हो और स्वप्न देखे कि वह समुद्र में डूब रहा है, वह भयभीत होता है, अब यदि कोई व्यक्ति नाव की सहायता से उसके डूबने के भय को मिटाना चाहे तो यह असंभव है; जब तक वह जगेगा नहीं तब तक उसका भय दूर नहीं हो सकता (इसी भाँति जब तक भ्रम है तब तक सांसारिक भ्रम भी नहीं मिट सकता) । यह संसार विवेकहीन पुरुषों के लिए, भयंकर होता हुआ भी, रमणीय सा प्रतीत होता है; किंतु जो व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न है जिसमें संतोष, दया आदि गुण विद्यमान हैं वह अपने व्यवहार से (इसको अनित्य मानता हुआ) सुख प्राप्त कर सकता है । तुलसीदास जी कहते हैं कि यद्यपि वेद बार-बार यह कहते हैं कि यह सारा विश्वप्रपंच असत्य है तो भी भगवान् की भक्ति और सज्जनों की संगति के बिना (केवल वेदों के उपदेश से ही) संसार के दुःखों का नाश नहीं हो सकता ।

८—(३) मैं अपनी पूजा तो बहुत चाहता हूँ, किंतु दूसरे की पूजा थोड़ी भी नहीं देख सकता ।

(५-१) विषयो में अनुरक्ति होने के कारण जो मैंने पाप किये उनको हृदय में छिपा लिया और किसी के साथ (बिना प्रयत्न और इच्छा के) जो कोई शुभ काम मुझसे हो गया उसका गान सारे संसार के सामने करता हूँ ।

(७-८) बहुत प्रयत्न करने पर भी ज्यों-त्यों करके यदि किंचित् मात्र भी पुण्य, शिला (खेतों में पड़ा हुआ अन्न) के समान थोड़ा सा, बन भी पड़ा तो उसको अभिमान, मेरे हृदय में घुस कर खोज लेता है, अर्थात् मुझे उतने से शुभ पर बड़ा अभिमान हो जाता है ।

(११) लाज अँचई घोरि = लाज तो धोलकर पी ली (अब लजा तो तनिक भी नहीं रही ।

(१) खोरि = दोष ।

६—(३) वेष और तपनों में तो वैराग्य है ; किंतु मन पाप (अघ) और अवशुणों का भांडार (ऋष) है ।

(४) भगवद्भक्ति और भगवद्विश्वास मेरे लिए निस्सार है और कपट-कर्म मेरे लिए और मेरे किये गये मारयुक्त हैं ।

(७-८) शिवजी की भी यही सोच है कि रखना को नित्यप्रति रामनाम के स्वर से संयुक्त रखना चाहिए, क्योंकि कलियुग में तो दम मे भी रामनाम रूपी कुम्भज (अमृत ऋष) सांसारिक दुःख की सागर को सुखा सकता है । अर्थात् यदि केवल दिव्यात्रे के लिए भी रामनाम लिया जावे तो भी संसार के दुःख दूर हो सकते हैं ।

१५—(३) द्वैतमूल—संसार रूपी वृत्त की मूलः द्वैतभावना (ईश्वर अलग है और संसार अलग सत्य है) है, इसके फल हैं भय, दुःख तथा शोक, इसको नामरूपी तेज कुठार से काटे बिना काम नहीं चलेगा । अर्थात् भगवज्जप से सांसारिक दुःख दूर हो जाते हैं ।

गोस्वामीजी अद्वैतवाद का समर्थन कर रहे हैं ।

१६—पाँवरनि = रत्नों पर !

१७—कनक-कमिपु = हिरण्यकशिपु ।

२२—मोहिं मूढ़ मन बहुत बिगोयो—

प्रसंग—प्रस्तुत पद में गोस्वामी तुलसीदास जी ने भगवान् से प्रार्थना की है कि आप मुझे दम मन से छुड़ाइए, इसने मेरी नाक में दम कर रखा है, मुझे जन्म-जन्मान्तरों में इसी के कारण कष्ट सहना पड़ा है :—

अर्थ :—

हे करुणामय भगवान्, मुझे इस अज्ञानी मन ने बड़ा तंग कर रखा है, इसके कारण अनेक बार जनम लेकर मैं रोता आया हूँ । जो अमृत के समान सीतल और मधुर मुख (परमानंद) है उसके पास रहते हुए भी मैं उससे इस प्रकार दूर रहा मानो वह सुख खो गया हो; मैंने दूसरी प्रकार से सुख के लिए उसी प्रकार प्रयत्न किया जैसे कोई मूर्ख घी निकालने के लिए पानी को मथता हो (भगवद्भक्ति के अतिरिक्त अन्यत्र विषय आदि में सुख प्राप्ति इसी भाँति व्यर्थ है) । मैं कर्मरूपी कीच को जानबूझ कर भी

उद्धार का साधन बनाकर मानो एक गंदे पदार्थ से दूसरे गंदे पदार्थ को धोना चाहता हूँ। जिस प्रकार एक प्यासा व्यक्ति अपनी शठता के कारण गंगाजी को छोड़कर बार-बार व्याकुल होकर आकाश की ओर आशा लगाये हो। हे प्रभु अब आप मेरे ऊपर कृपा कीजिए मैंने अपने सारे दोष आपके सामने स्पष्ट कर दिए हैं कुछ भी नहीं छिपा रखा। हे नाथ ! जिस प्रकार कोई व्यक्ति चैन से सोने की तैयारी करता हुआ ही सारी रात्रि व्यतीत कर दे और इस प्रकार उसे सुख से सोने का अवसर ही न मिले, ठीक उसी प्रकार मैं अनेक जन्मों में यह प्रयत्न करता रहा कि मुझे सुख मिले किन्तु उस सुख या आनन्द को मैं आज तक कभी प्राप्त न कर सका—मैं कभी अनन्त आनन्द का अधिकारी भी न बन सका।

टिप्पणी—(१) अनेक जन्मों में जिन कर्मों को करना पड़ता है वे कर्म व्यक्ति को उसी प्रकार मलयुक्त बना देते हैं जैसे कीच। गोस्वामीजी ने और भी पदों में “करम-हीच” का वर्णन किया है। देखिए—“कबहूँ मन विश्राम न मान्यो” वाला पद।

(२) अंतिम पंक्ति लोकोक्ति ही बन गई है।

२२—(७) “छ-मत विमत” इत्यादि—

षड्दर्शन (वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा मीमांसा) एक दूसरे से भिन्न विचार रखते हैं; पुराणों का भी एक मत नहीं है; केवल वेद ही एक मत से (चारों वेद) यह कहते हैं कि “नेति नेति”; अर्थात् ब्रह्म की कोई इयत्ता नहीं है—हम उसके गुणों को न कह सकते हैं न सोच सकते हैं, वह गुणों से परे है।

नेति = न + इति (जिसमें “इति” न हो)।

२८—प्रस्तुत पद्य में गोस्वामीजी ने ऐसे सन्तों के लक्षण, अप्रत्यक्ष रूप से, बतलाये हैं जिनको भगवत्कृपा से विवेक बुद्धि प्राप्त हो चुकी है:—

जब मेरा मन, आपके सहज स्नेह को छोड़कर विषयों में जिस प्रकार लगा हुआ है उसी प्रकार, आप में लग जावेगा और विषयों का त्याग

कर देगा तब मैं समझूँगा कि आपने मुझे अपना लिया—मैं आपका सच्चा दास हो गया। अर्थात् आज मेरे मन में जिस प्रकार पुत्र का प्रेम, मित्र का विश्वास और नृप से भय है उसी प्रकार आपसे पुत्र का सा प्रेम, मित्र का सा विश्वास तथा नृप का सा भय होगा। आजकल मैं आपके स्वार्थ पर इसी प्रकार लगा रहता हूँ जिस प्रकार चातक मेव की ओर अपना ध्यान लगाये रहता है; उस समय मैं एक टेक से आपका ही ध्यान करूँगा। संसार में आदर पाकर मेरे मन को जो हर्ष अब होता है वह तब न होगा और आजकल निरादर प्राप्त करने पर जो दुःख मुझे होता है वह तब न होगा। हानि-लाभ, सुख-दुःख, हित-अनहित आदि में उस समय मेरा चित्त समान होगा और अपनी कुचालों को छोड़ देगा। भगवान् के गुणों का वर्णन सुनकर मनको हर्ष होगा और आँखों से प्रेम का जल बहेगा; उस समय मुझे यह विश्वास हो जावेगा कि मुझे आपने अपना लिया, तब आपके प्रेम से मेरे हृदय में आनन्द भर जावेगा।

टिप्पणी—(१) प्रस्तुत पद्य में गोस्वामीजी ने सफल सन्तों के लक्षण बतलाये हैं।

(२) “कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो” वाले पद से इस पद की तुलना कीजिये।

गीतावली

बालकांड

(१) सुवन=पुत्र

(७-८) चागें पुत्रों के बालकपन के आनन्ददायक विनोद चन्द्र के समान श्रद्धादकारक हैं, उनकी लीला ज्योत्स्ना के समान कमनीय है, महाराज दशरथ के पुण्यों का सागर इस चन्द्र और उसकी उजियाली को देखकर लहरता रहता है और घर-घर आनन्द बघावे होते हैं।

(३) राम-पद्-पदुम-पराग-परी—

शब्दार्थ—दुव=दावाग्नि (वन में लगने वाली अग्नि)।

विबुध-बेलि=अमर बेलि।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में महात्मा तुलसीदास भगवान् राम द्वारा अहिल्या के उद्धार का वर्णन कर रहे हैं ।

अर्थ—भगवान् के कमलरूपी चरणों की परागरूपी रज के पड़ते ही गौतम की पत्नी अहिल्या ने (शाप के कारण धारण किया गया) अपना पत्थर का शरीर छोड़ दिया और (मनुज का) सुन्दर शरीर धारण कर लिया । जो ऋषिपत्नी अपने कठोर पतिशाप की दावाग्नि से विषम रूप से पीड़ित थी वह भगवान् की कृपा-सुधा से सींची जाकर उसी प्रकार सुख के फलों को धारण करती है जैसे अमर बेलि । जो भगवान् की मूर्ति वेदों द्वारा भी अगम्य है और जिसको पतिरूप में वरने के लिए भ्रमेश की बुद्धिरूपी युवति सदा प्रयत्नशील रही है वही मूर्ति आज (भाग्यवश) जेवरथ में आ गई (यह जानकर) अहिल्या एकटक दृष्टि से उसे निरन्तर देखती रही । वह अपने हृदय से (प्रभावित होकर) (भगवान् के प्रेम से हर्षित होकर) भगवान् के स्वरूप, शील और गुणों का वर्णन कर रही है । तुलसीदास कहते हैं कि भगवान् ने इस प्रकार के किस दुःखी प्राणी के दुःख का हरण नहीं किया अर्थात् वे सदा इस प्रकार के दुःखी जनों के ऊपर कृपा कर उसके दुःखों को हरते रहे हैं ।

टिप्पणी—(१) अलंकार—

(क) रूपक—“रामपद-पदुम”, “पतिसाप-दुसहदव”, कृपा-सिधु”, आदि में प्रस्तुत “पर”, “साप”, तथा “कृपा” पर अप्रस्तुत “पदुम”, “दव”, तथा “सुभा” का आरोप होने से रूपक अलंकार है ।

(ख) काकूक्ति—अन्तिम पक्ति में है ।

(ग) उपमा—“विवुध बेलि ज्यो” में है ।

(घ) अनुप्रास—“पदमदुम - पराग परी”, “मूर्ति महेश - मति” आदि में ।

(ङ) यमक—“निगम-अगम” में “गम” पद की आवृत्ति से ।

(२) भगवान् की कृपा सर्वदा दुःखियों पर होती है, इसमें भगवान् के अहिल्योद्धार का उदाहरण दे रहे हैं । (अन्नकर्था के लिए रामायण में अहिल्योद्धार की कथा देखिए ।

४—भूरि=अधिक (बड़े)

(५) मली अपना अनुमान बतलाती है कि कदाचित् इन राम तथा लक्ष्मण को यहाँ जनकपुर में बुलाने के लिए ही आते राजा ने यह धनुष-यज्ञ के इन्हें ठाठ बनाये हैं । धनुष-यज्ञ तो केवल गढ़ाना भर है, उद्देश्य तो कदाचित् इन राजकुमारों का दर्शन ही है ।

(४) रूपक अलंकार है

५—(८-१०) लक्ष्मण ने जनक को निराश और राम को धनुष की ओर आते देखकर शेष से कहा कि हे पृथ्वी को धारण करने वाले (धरणिधर) शेष भगवान् तुम इस समय स्थिर तथा दृढ़ होकर धरणी को धारण करो; हे बल्लुवे, हे वाराह और हे दिग्दंतियो तुम आज भली भाँति तैयार होकर भगवान् के कार्य में सहायक बनो क्योंकि आज दशरथ के युवराज महाराज राम उत्साह के साथ शिव-धनुष को चढ़ाना चाह रहे हैं ।

धरनि=पृथ्वी, धरनिधर=शेष नाम; धरनिधर=पृथ्वी को धारण करने वाले (या क्रिया भी मान सकते हैं) । कमठ=कलुआ । कोल=वाराह । दिग्दंति=दिशाओं के हाथी । चपरि=उत्साह से ।

कोदंड=धनुष; प्रलय-भयोद=प्रलय का जल बरसाने वाले बादल । सुआसिनि=सौभाग्यवती (पति पुत्रवती) स्त्रियाँ ।

(११-१४) (राम ने उस धनुष को) हाथ से पकड़ा और उसे अनायास ही उठाकर मुनि विश्वामित्र के शरीर में हर्षजन्य रोमाञ्च की वृद्धि की (अर्थात् धनुष को उठाते ही रोमाञ्च को उठाया या बढ़ाया) ।

उस धनुष को नवाते हुए राजाओं के मुखों को भी (लज्जा के कारण) नीचा करके सभी को सुख दिया ।

उस धनुष को खींचते हुए राम ने सीता का मन भी अपनी ओर खींच लिया । उनका धनुष चढ़ाना देखकर जनक का हृदय अत्यन्त प्रफुल्लित हुआ ।

उसको तोड़ते हुए राम ने परशुराम के अभिमान को (कि वे ही विष्णु के अवतार हैं) भी मानो तोड़ दिया—भिटा दिया ।

इस प्रकार उन्होंने तीनों लोगों को अपने अद्भुत कार्यों द्वारा विमोहित कर दिया ।

६—वितान=चँदोवा । रहसवस=आनंदमग्न । निसान=दोल ।

(४-६) ऐसा प्रतीत होता है कि कामदेव के सुन्दर मण्डप में (सुख तथा आनन्द से पूर्ण होने के कारण) शृंगार (राम के समान श्यामल) तथा छुवि (सीता के समान रमणीय) मिले हुए हैं ।

दोनों ही परम मंगल से युक्त हैं और उनके मनोहर अंगों पर चुंदरी (रमणियों का वस्त्र) तथा पीताम्बर हैं ।

वे विवाह महोत्सव के अवसर पर स्वर्णकलश की परिक्रमा कर रहे हैं । इस मंडप की शोभा को देख कर स्वयं सरस्वती भी आनन्द विह्वल हो जाती है और उस शोभा का वर्णन नहीं कर पाती ।

(१०) जिस आनन्द में मन मग्न है उस आनन्द का वर्णन वेचारी जिह्वा (जिसने उस आनन्द का अनुभव ही नहीं किया) कैसे कर सकती है । मन अनुभव करता है और जीभ वर्णन करती है—यही तो बिडम्बना है ।

अयोध्याकांड

२—(१) हे पुत्र ! यदि तुम पिता की आज्ञा के सच्चे पालक हो तो तुम्हें यह भी तो सोचना चाहिए कि माता की आज्ञा का भी पालन हो ।

(२) निगम=वेद ।

३—(२) विरह-सागर में डूबती हुई सीता से वन चलने की बात कह कर मानो उनके नाथ रामचन्द्र जी ने उनको बाँह पकड़ कर डूबते से बचाया ।

मिस=बहाना ।

(३) तुलसीदास कहते हैं कि यह कभी नहीं सुना गया कि शरीर को छोड़ कर परछाई उससे अलग रहे (इसी भाँति पति को छोड़ कर पत्नी का भी अलग रहना संभव नहीं) ।

४—(१) उनके हृदय में धुकधुकी चल रही है और मन में संकोच है इसलिए कुछ कह भी नहीं सकते (केवल यह सोचते हैं) कि राम सब से नाता तोड़ कर सब को छोड़ कर वन जा रहे हैं ।

(२) कृपासिंधु राम ने लक्ष्मण को देखा कि वे अपने प्राणों के सहित इस प्रकार तैयार थे मानो कोई वीर पुरुष अपनी तलवार लिए हुए रण के लिए तैयार हो ।

(१) यदि तुम सीता-राम की सेवा में रह कर अपना पवित्र जीवन विताओगे तो मैं समझूँगी कि तुम मेरे सच्चे पुत्र हो ।

मुक़्त = पुण्य ।

(५) नृपति-कुंवर राजत मग जात

शब्दार्थ—सरोरुह = कमल । अंसनि = कंधों पर । चाप = धनुष । तून = तरकस । मायक = बाण । वदन = मुख ।

प्रसंग—प्रस्तुत पद में सीता तथा लक्ष्मण सहित वन जाते हुए राम का वर्णन है ।

अर्थ—सुन्दर मुख, कमल जैसे नेत्र और मरकतमण्य तथा स्वर्ण जैसी शरीर कान्ति वाले (दो) राजकुमार मार्ग में जाते हुए शोभित हो रहे हैं । उनके कंधों पर धनुष, तथा कटि में तरकस है । वे मुनियों जैसे वस्त्र पहिने हैं और सिर पर जटा, मुकट तथा वृद्धों के नवीन पत्ते धारण किये हुए हैं । अपने कमल रूपी कर्णों में बाण को लेते हुए अपनी स्वाभाविक मुसकान से वे (देखने वालों के) चित्त को चुराते हैं । उनके साथ एक सुन्दर तथा सुकुमार रमणी है जो सोलह शृंगार तथा अभूषणों के बिना ही सुशोभित हो रही है । इस सुन्दरता को देख कर ग्रामीण स्त्रियों के नेत्र रूपी कमल इस प्रकार विकसित हो रहे हैं जैसे प्रातःकाल में कमल विकसित होते हैं । उनके अंग-प्रत्यंग में अनेक कामदेवों की शोभा है इसलिए कवि गुण उस शोभा की उपमा देते हुए भी संकुचित होते हैं । तुलसीदास कहते हैं कि मार्ग में सीता सहित जाते हुए दोनों भाई—राम तथा लक्ष्मण—सदा मेरे चित्त में निवास करें (यही मेरी कामना है) ।

टिप्पणी—(१) अलंकार—

(क) रूपक—“सरोरुह-लोचन” “अनि-सरोजनि” तथा “नलिन-नयन” में ।

(ख) अनुप्रास—“अंग-अंग अगनित अनग” आदि में ।

(ग) उत्प्रेक्षा—६ वीं पंक्ति में है ।

(च) विभावना—“राजति विनु भूषन” में है ।

(छ) पुनरुक्ति प्रकाश—“अंग अंग” में ।

६—(१) बटोही = पथिक ।

(१) दोनों के बीच में एक सुन्दरी सुकुमारी नारी इस भाँति सुशोभित है मानो इन्द्र तथा उनके छोटे भाई उपेन्द्र (विष्णु) के बीच लक्ष्मी है ।

एक अवतार में विष्णु इन्द्र के छोटे भाई थे । लक्ष्मी को इन्द्र और उपेन्द्र के बीच में रख कर सीता की उससे तुलना करना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ इन्द्र हुए राम, उपेन्द्र हुए लक्ष्मण; किन्तु लक्ष्मी इन्द्र की पत्नी नहीं उपेन्द्र (विष्णु) की थीं ।

(३) करनि = हथों में ।

मर्दन अर्वाङ्ग द्रोही = पृथ्वी के अत्याचारियों को नष्ट करने वाले ।
अंबुजायत = कमल के समान विस्तृत ।

७—(१) छोलत = बनाते मध्य काट-छाँट करते हुए ।

(२) अमिय-अमृत । नेत्र रूपी बालकों को अमृत रूपी घुटी दो जिससे वे स्वस्थ रहें ।

८—(१) लोनी = सुन्दरी । दामिनि = बिजली ।

एक बिजली के समान चमकाले रंग वाली गोरी रमणी (इनके साथ) है, जिसकी किशोरवस्था बीत गई है और जो युवावस्था में है । प्रामाण्य स्त्रियाँ उस सुन्दरी को देखकर तिनका तोड़ती हैं (जिससे नजर न लगे) ।

(६) मन्तोहरता के मानो ऐन—

* शब्दार्थ—विधुवदनी = चन्द्रमुखी । ऋतुनाथ = बसंत ।

प्रसंग—मार्ग में जाते हुए राम, लक्ष्मण तथा सीता को देख कर एक सखी दूसरी से कह रही है :—

अर्थ—हे सुमुखी, आँखें भरकर (आत) इन दोनों पथिकों को देख लो, ये दोनों किशोर युवक श्याम और गौर रंग के हैं और सुन्दरता के घर से प्रतीत होते हैं । इनके बीच में एक चन्द्र के समान सुन्दर मुख वाली बधू सुशोभित हो रही है जिसकी उपमा के लिए संसार में कोई भी नहीं है । ऐसा जान पड़ता है मानो कामदेव रात तथा बसन्त के साथ मुनि वेष धारण किए हुए जा रहा हो । अथवा शृङ्गार, सुषुमा तथा प्रेम तीनों मिलकर के संसार के मन रूपी घन को लेने के लिए (घर से) निकले हों । अथवा ऐसा प्रतीत होता है मानो यह अद्भुत त्रि-मूर्ति मार्ग के लोगों को (दर्शन से) सुख देने के लिए स्वयं ब्रह्माजी ने भेजी हों ।

इस प्रकार के प्रामवधुओं के स्वाभाविक स्नेह से युक्त वचन सुनकर भगवान् रामचन्द्र पेड़ के नीचे रुक गये और उनके (स्त्रियों के) नेत्रों को प्रेम से ऋणी या कुतज्ञ बनाया अर्थात् उन सबको बड़ी देर तक दर्शन देते रहे ।

टिप्पणी (१) अलंकार—

(क) रूपक—“वधुवदन” में तथा “चित्त-वित” में ।

(ख) उत्प्रेक्षा—“मानहुँ रति” आदि में ।

(ग) सन्देह—१ में तथा ६ में पंक्ति में ।

(घ) अनुप्रास—“सुनि मुचि सरल सनेह मुहावने” आदि में ।

(ङ) काकूक्ति—अन्तिम पंक्ति में ।

२०—(१) शील और रूप के मांडार ।

राजिव = कमल ।

(६) कमर में रकस और हाथ में धनुष-बाण लेकर पृथ्वी (दिति) का भार (दुष्टों को मारकर) हाने का जा रहे हैं ।

(१२) सभार = सुध । उनको अपने शरीर की भी सुधि न रही ।

१२—(५) जल से युक्त निर्मल शलाओं पर आकाश की परछाई पड़ती है और वगैरा प्रतीति भी उन लहरों में जब झलकता है तो यह जान पड़ता है मानो बिना भगवान् के प्रत्यंग पर संसार की विचित्र रचना सुशोभित हो रही हो ।

१३—(३) संभ्रम = अकस्मात् बिना सोचे समझे ही ।

(४) आजर = आँगन ।

१४—(१) धर्मधुरान = धर्मात्माओं में अप्रणी ।

१६—(२) प्रनतपाल = प्रणत (दास) का पालन करने वाले ।

(४) खर = गदश श्वान = श्वानि (कुत्ता) ।

(३) यदि आपके चरणों को छोड़कर मरे हृदय में किसी और का सहारा हो और (इसलिए) मैं हृदय में कुछ दूसरा भाव छिपाकर आपसे (लौट चलने के लिए) कह रहा हूँ, तो हे दयालु, हे दीनों पर दया करने वाले, हे प्रभु आप हृदय की बात जानने वाले हैं (आपको मैं अपने हृदय की बात का क्या विश्वास दिलाऊँ) आप मुझको त्याग दीजिए ।

अभिअन्तर-साखी = अभ्यन्तर-साखी !

अरण्य काण्ड

१—(१) बरहि = बही = मोर ।

२—(७) हे प्रभु, मैं इस भूठे जीवन के लिए समय का घोखा न खाऊँगा अर्थात् मैं मरने के उचित समय को हाथ से न निकलने दूँगा (यदि अब आपके हाथों से मेरी मृत्यु होती है तो मुझे मोक्ष मिलेगी और अब न मरकर यदि फिर कभी मरा तो मुझे फिर जन्म मरण के चक्र में पिसना पड़ेगा इसलिये इस समय मरना ही ठीक है) ।

किष्किन्धा काण्ड

१—(४) मानो अग्नि में घी के भरे हुए माठ (बड़े बड़े मिट्टी के पात्र) पिघल गये हों ।

(५) “गये निषरि”—अपने सारे पुण्यों के फल मानो आज सब घटकर नष्ट हो गये हों ।

सुन्दर काण्ड

१—(१) वियोग संभव = वियोग से उत्पन्न होने वाला ।

(२) जिनके कमल जैसे नेत्र हैं जो अनेक कामदेवों के समान सुन्दर हैं, जो रघुकुल रूपी कुमुद को सुख देने वाले चन्द्रमुख से युक्त हैं ।

(७) अनंतबन्धु = अनन्त = शेष (लक्ष्मण) के बन्धु राम या अनन्त अनेक हैं बन्धु जिनके ऐसे भगवान् ।

२—(१) सीताजी की तत्कालीन दशा को देखकर हनुमानजी अत्यधिक व्याकुल हुए जिस भाँति कि ग्रीष्मकाल का कोई पथिक भूमि को सूर्यतप्ता देखकर दुःखी होता है (और चलने का साहस नहीं करता) (वैसे ही हनुमान जी चलने का साहस न करते थे) ।

यहाँ वियोगमि को सूर्यातप, सीता (पृथ्वी की पुत्री) को तप्त (या संतप्त) धरिणी तथा हनुमान को (गमन प्रायः) पथिक के समान माना गया है ।

हरीस = बन्दरों के स्वामी हनुमान्

(४) उन्होंने देखा कि यह (सीता का राम के प्रति प्रेम) छल-बल का स्थान न था, यह केवल पूर्ण (पक्का पुरुष) प्रेम का स्थल था ।

(३) तुम्हारे विरह भई गति जौन—

शब्दार्थ—कृपिन = लोभी, कंजूस (स्त्री) । मोरेहु = बिना जाने ही ।

प्रसंग—लंका से लौटकर हनुमान् भगवान् राम को सीता की दशा तथा सीता के वियोग को सुना रहे हैं ।

अर्थ—हे करुणानिधि भगवान् राम, आपके विरह में (माता सीता की) जो गति हो गई है उसे आप ध्यान देकर सुनिए, मैं उसको कुछ-कुछ (ज्यों की त्यों नहीं) जानता (समझता) हूँ, किन्तु कह नहीं सकता ।

उनके नेत्रों के कोनों में अश्रुजल उसी प्रकार निरन्तर भरा ही रहता है (बाहर आकर व्यर्थ नहीं होता) जिस प्रकार किसी कंजूस (स्त्री) का धन सदा घर के कोने (कोने) में भरा रहने पर भी बाहर आकर कभी खर्च नहीं होता । मौन रूरी बड़े अधिक ने 'हा' की ध्वनिरूपी चिड़िया को लज्जारूपी पिंजड़े में दृढ़पूर्वक रखा है; (उसे निकलने नहीं देता) अर्थात् वे वियोग-व्याकुल होकर 'हाय हाय' की ध्वनि करती हैं किन्तु लोकलजावश (जिससे अधीरता प्रकट न हो) मौन रह जाना पड़ता है । जिस वाटिका में वे रहती हैं वहाँ के रहने वाले पक्षी (खग) तथा पशु (मृग) अपने पुराने घरों (घोंसलों आदि) को छोड़कर (इस डर से) चले गये (कि वियोगाग्नि कहीं उनको भी भस्म न कर दे) । यदि शीतल मन्द तथा सुगन्ध तीनों प्रकार की वायु उस मार्ग से अनजाने हुए भी जाकर सीता के उष्ण निश्वासों से एक बार छू जाती है तो फिर उस मार्ग में कभी भूलकर भी पद नहीं रखती । तुलसीदास कहते हैं कि सीता की उस वियोग दशा का मुख से कथन करना संभव नहीं है, हे प्रभु, आप दर्शन देकर उनके दुःख को दूर कीजिए क्योंकि आप दुःखियों के दुःख का दमन करने वाले हैं ।

टिप्पणी—(१) अलंकार—

(क) रूपक—“हाधुनिखगी”, “लाअपिजरी”, तथा “बधिक-मौन” में ।

(ख) उपमा—इ य पंक्ति में ।

(ग) अत्यक्ति—५ म तथा ६ म पंक्ति में ।

(२) वियोग बहुत सुन्दर वर्णन इनुमान् जी के मुख से कराया गया है, अत्युक्ति अलंकार संयमित रूप में है, विरहानल के आधिक्य से पशु-वृत्तियों का वाटिका छोड़ कर जाना तथा वाटिका की वायु का तप्त होना असंभव नहीं ।

लङ्का काण्ड

(२) हृदय-घाव मेरे, पीर रघुवीरै ।

मूर्च्छा त्यागने के उपरान्त जब संजीवनी से लक्ष्मण स्वस्थ हो गये तो पूछने वालों को वे अपनी पीड़ा के विषय में उत्तर देते हैं ।

संजीवनी बूटी पाकर जब लक्ष्मण ने मूर्च्छा त्याग दी तो वे (भाई के) प्रेम से पुलकित हो गये और उनके अपने शरीर की सुधि न रही । (पूछे जाने पर) वे बोले कि यद्यपि व्रण मेरे हृदय में हुआ था फिर भी इसकी पीर मुझे न थी राम को ही उस कष्ट का अनुभव होता था तो तुम लोग मुझ से बार बार क्या पूछ रहे हो जैसे कोई अज्ञानी तोते से रटे हुए पद का अर्थ पूछता है । क्योंकि जान ही नहीं सकता, जिसने रटाया है वह जाने । जिस प्रकार हीरा की शोभा तथा मोल तो अपना होता है किन्तु उस शोभा से या उस मोल से सुन्दरता, सुख, लाभ या हानि राजा को—उसके स्वामी को—होगी स्वयं हीरे को नहीं (इसी प्रकार मैं तो स्वयं राम के लिए हूँ मेरा अलग व्यक्तित्व नहीं) । सुमित्रा पुत्र के ये वचन सुनकर के स्वयं धीरज भी अधीर हो जाता है । राम और लक्ष्मण का प्रेम नार-क्षीर के मिलाप से भी बढ़कर है इसकी समता का कोई भी मिलाप ससार में नहीं ।

अलंकार—

(क) असंगति—कारण (घाव) दूसरी जगह (लक्ष्मण के हृदय में) और कार्य (पीर) अन्यत्र (राम के हृदय में) है ।

(ख) दृष्टान्त—३ य तथा ४ य पंक्ति में ।

(ग) काकूक्ति—अन्तिम पंक्ति में “क्यों दीजै” (अर्थात् “न दीजै”) ।

खीर-नीरै—नीर-खीर-न्याय । जिस प्रकार दूध और पानी एक दूसरे में इतने मिल जाते हैं कि उनमें अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता; उनका रूप, रंग तथा सभी गुण एक हो जाते हैं ।

(३) राजत राम काम-सब सुन्दर

शब्दार्थ—वसिष्ठ = वाण । वनरुह = कमल ।

सोनित = रक्त । विबुध = देवता ॥

प्रसंग—बुद्ध भूमि में रावण पर विजय प्राप्त कर रामचन्द्र लक्ष्मण सहित विराजमान है, कवि उनकी अद्वितीय शोभा का वर्णन कर रहा है ।

सैकड़ों काम देवों के समान सुन्दर राम शत्रु पर विजय प्राप्त करके अपने कमलकरों में धनुष-वाण लिए हुए अपने छोटे भाई लक्ष्मण के सहित सुशोभित है । श्यामल शरीर पर पसीने के सुन्दर बिन्दु हैं और बीच बीच में मनोहर रक्त बिन्दु हैं (यह शोभा ऐसी जान पड़ती है) मानो नीलमणि पर्वत पर जुगनुश्रों और वीर बहूटियों का समूह शोभित हो रहा है (लज्जित स्वेद बिन्दु के समान श्वेत और वीर बहूटियाँ रक्तविन्दवत् रक्त होती हैं) । चारों ओर सब घायल रीछ और बानर वीर हर्षित हैं, यह शोभा ऐसी लगती है मानो फूले हुए क्रिसुक् के वृक्ष समूह के मध्य में एक बड़ा तमान का विशाल वृक्ष खड़ा हो । भगवान् ने अपने कमल नयनों से उन मुनि, नाग, देव तथा मनुष्यों को देखकर उनको अभय दान दिया । तुलसीदास कहते हैं कि विपत्तिश्रो को हरने वाला यह अपूर्व रूप मेरे हृदय-सरोज में सदा निवास करे ।

अलंकार—

(१) उपमा—(क) ३ य तथा ४ य पंक्ति में ।

(ख) ५ म तथा ६ म पंक्ति में ।

(२) रूपक—राजिवनयन “हिय सरोज” ।

(३) अनुप्रास—“विलोकि कृपा करि किए” इत्यादि ।

कवितावली

बालकाण्ड

२—(२) पुरन्दर = इन्द्र । कृमानु = अग्नि ।

३—डिगति उर्वि अति गुर्वि

शब्दार्थ—डिगति = हिलती है । दिगयंद = दिशाओं के हाथी ।
हिममानु = चन्द्र । विराचि = विष्णु । कोल = वाराह । कमठ = कछुआ ।
अहि = शेष नाग । कलमल्यो = धवरा गये ।

प्रसंग—धनुष-यज्ञ के अवसर पर उपस्थित होकर राम ने जिस समय धनुष को तोड़ा सारा संसार भयभीत हो गया, कवि उसी घटना का वर्णन कर रहा है ।

अर्थ—उस समय (जब राम ने धनुष तोड़ा) अत्यन्त भारी तथा विस्तृत पृथ्वी हिलने लगी और पर्वत, समुद्र तथा नदियाँ भी (अपना स्थान छोड़ गईं) । शेषकाल (उस ध्वनि को सुनकर) बहिरै हो गये । चर तथा अन्नर जितने दिग्पाल थे, सभी व्याकुल होगये । दिग्दंती कँपकर लड़खड़ाने लगे और रावण मुख के बल गिर पड़ा । आकाश में चलनेवाले देवताओं के यान, चन्द्र तथा सूर्य (दिशाओं में कोई शासन न रहने से) टकराकर आपस में लड़ गये । विष्णु (जो संसार का पालन करते हैं) चौंके (कि प्रलय क्यों होना चाहती है, और शिवजी (जो प्रलय करने वाले हैं) चौंके (कि मेरे बिना प्रलय कौन कर रहा है) कोल (वाराह) कमठ तथा शेषनाग (जिनके ऊपर पृथ्वी रखी हुई है) एक दम धवरा गये । इस प्रकार जब राम ने शिव धनुष को तोड़ा तो उसको प्रचण्ड ध्वनि ने सारे ब्रह्मांड के खण्ड कर दिये (उसे विदारित कर दिया) ।

टिप्पणी—(१) यह छप्पय वीर रस का सुन्दर उदाहरण है, रसानुकूल कितनी ओजपूर्ण भाषा है जिसमें अमर श की शैली का दंड तथा अपभ्रंश भाषा का सुन्दर मेल है । “ब्रह्मांड खण्ड चण्ड” पढ़ते हुए ही धनुष के टूटने की ध्वनि का साक्षात् अनुभव होने लगता है ।

२—गुर्वि = गुर्धी (गुरु = भारी का स्त्रीलिङ्ग शब्द) । पर्वै = पर्वत ।
मुखलभर = मुख के भार (मुख के बल) ।

अयोध्याकांड

१—इस छंद का अर्थ करते समय, हमारी समझ में, तजी किया का यो होना चाहिए ।

(उपपम) सुन्दर अंगों को प्राप्त कर (राम ने) नृत्तचर तथा विभूषणों को उस प्रकार (छोड़ दिया) जैसे तोता अपने (ऊपरी) पंखों को गिरा देता है । अयोध्या को उस प्रकार जोड़ दिया जैसे (कोई बटाऊ) मार्ग में जिनके नीचे बास करता है उस वृक्षों को छोड़ देता है । अयोध्या की जनता को उस प्रकार छोड़ दिया जिस प्रकार (बटाऊ) मार्ग के साथियों को छोड़ देता है । उनके संग केवल सुबंधु लक्ष्मण तथा पवित्र सीता थीं जो इस प्रकार जान पड़ते थे मानों देहधारी धर्म और क्रिया हों । इस प्रकार कमलनयन राम अपने पिता के उस राज्य को (जो वास्तव में उनका था) एक पथिक के समान छोड़कर चल दिये (मानो उससे उनका कोई भी सम्बन्ध न हो) ।

२—(३) सीता समझ रही थी कि कहीं थोड़ी-सी दूर पर ही पर्णकुटी बनायेंगे, अतः उन्होंने पूछा—“अब कितना और चलना है मेरे स्वामी, आप किधर पर्णकुटी बनाना चाहते हैं ।

सीता का भोलापन तथा कोमलता देखिए और फिर उनके प्रेम और साहस का उनसे अनुमान लगाइए ।

३—(१) मैं उस रानी को महा अज्ञान भरी समझती हूँ; उसका हृदय पवि (वज्र) और पहाड़ से भी अधिक कठोर है ।

यहाँ पहिले पाहन से तब पवि से हृदय की तुलना करनी चाहिए क्योंकि पत्थर कम कठोर होता है वज्र अधिक । ऐसा न करने से ‘पतःप्रकर्ष’ दोष है ।

अज्ञान = अज्ञान = ज्ञानहीन = भोला (Innocent) “जानी अजानी” में यमक; “पवि पाहन” में अनुपास; तथा उत्तरार्ध में व्यतिरेक अलंकार है ।

(२) राजा को भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान न था क्योंकि उन्होंने स्त्री के कथन को सुना (और उसके अनुसार ही काम किया) ।

“कान करना”—सुनकर तदनुसार काम करना ।

काज—कार्य—कर्त्तव्य । स्त्री की बात मान कर प्रायः कर्त्तव्य—अकर्त्तव्य

का ज्ञान नहीं रहता । यहाँ 'तिय' शब्द केवल साधारण स्त्री के लिए आया है । मिलाइए:—

“मूरख सो जो मतै घर नारा” (जापसी)

(४) हे सखि ये तो आँखों में (बंद करके) रखने योग्य है (इनका तो कोई केवल ध्यान करता रहे आँखें बंद करके) । मिलाइवे—

“आँखिन में जे सदा बसते, तिनकी अब कान कहानी सुनौ वरें”

(आलम) ।

“आँखों में बसना” एक मुहाविरा है । और मिलाइए:—

“नयनों की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाइ ।

पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाइ ॥”

(कबीर) ।

अरण्यकांड

(१) अंतिम पंक्ति से यह स्पष्ट है कि यह सबैया समस्यापूर्ति के लिए ही लिखा गया है । क्योंकि चतुर्थ पंक्ति का ऊपर की ३ पंक्तियों से कोई सीधा संबंध नहीं, बीच में कूद कर इस पर आना पड़ता है ।

(देखिए “कवितावली मुक्तक है या प्रबंध काव्य” शीर्षक ।

किष्किन्धाकांड

१—(१) न कूदिबे को पलुगो=कूदने में पल भर भी समय न लगा ।

(२) सकेलि=स + केलि (अनायास ही आनंदपूर्वक)

कलु गो=कल गई=वि + कल होगये

(३) वाराह धवरा गया और शेषनाग तथा कच्छप बलहीन होगये ।

(४) “चारिहू—चिपिट गो”—चारों ही चरणों के चपेटे में आकर (पर्वत) चिपिट गया (२. चपटा हो गया) (अच्छा अर्थ यह होगा कि) हनुमान ने (जब कूदने का साहस किया तो) जिस पर्वत को चारों चरणों से जकड़ सा रख। था वह पर्वत उनके साथ ४ अंगुल उचक गया ।

सुन्दर कांड

१—(१) बालषी=पूँछ ।

(२) व्योमबीथिका = आकाशगंगा । धूमकेतु = पुंछल तारे ।

वीर वीरस ने मानो अपनी तलवार नंगी करली हो ।

(३) कुसानु-सरि = अग्नि की नदी ।

२—रावन सो राजरोग—

शब्दार्थ—ओत = कभी (अंतर) । मनाक = थोड़ा भी । रजाय = आज्ञा । सरवाक = प्याला । (ब्र० सरवा) । जात रूप = स्वर्ण । समीर सून = हनुमान (सून = पुत्र Son) । जातु धान = राक्षस । राजरोग = राजयक्ष्मा (तपेदिक) ।

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त में विराट् भगवान् के हृदय में रावण को राजयक्ष्मा रोग के समान मानते हुए उपमा एवं रूपक की संसृष्टि द्वारा उपचार रूप में उसके निधन की मुक्तियों का वर्णन किया गया है ।

अर्थ—विराट् भगवान् के हृदय (विश्व) में राजरोग जैसा रावण बढ़ता हुआ दिन-दिन सबको सुखटंक (दुःखी) और विकल करता था । सभी सुर, सिद्ध और मुनि (इससे बचने के) अनेक उपचार करते-करते थक गये । किंतु (विश्व) शोकरहित न हुआ और इस रोग (रावण) में थोड़ी भी कभी न आई । तब राम की आज्ञा से एक रसायन जाननेवाले वैद्य के समान हनुमान् ने समुद्र के उस पार जाकर एक मिट्टी का पात्र तैयार किया । उसमें राक्षस रूपी बूरी और लंका के स्वर्ण रूपी पुटपाक को रखकर (उस पात्र को बदकर) बड़े यत्न से लंका के उन रत्नों को जलाकर मृंगाक जैसी औषधि तैयार की ।

पुटपाक—ऐसी वस्तुएँ जिनको साथ रखकर दूसरी सूक्ष्म तथा कीमती वस्तुओं की भस्म बनाई जाती है ।

अलंकार—(१) रूपक—“धातुधान-बुट” “पुटपाक-लंक जातु रूप” में ।

(२) उपमा—“रावन सो राजरोग”, “सरवाक सो”, “मृंगाक सो” वस्तुतः यहाँ दोनों अलंकार मिले हुए हैं ।

(३) यमक—“रतन जतन” ! विकल सकल” ।

(४) पुनरुक्ति प्रकाश—“दिन-दिन”

(५) अनुप्रास—“कर हारे सुर सिद्ध” । आदि ।

२—साहसी समीट सूनू—आयो हनुमान सो ।

शब्दार्थ—सारिषी=सदृशी (समान) । अञ्छ-धारी=अक्षय की सेना ।
भानुकुल भानु=राम (भानुकुल=सूर्यवंश) । भानु=चमकता हुआ ।
प्रतापभानु=प्रताप रूपी सूर्य ।

कोकनर=कमल । कोक=चकवा-चकवी । विसोक=प्रपन्न ।

प्रसंग—प्रस्तुत कवित्त में हनुमान को श्मशान सेवा करने वाला मानते हुए, कवि ने, लंका के सिद्धपीठ होने से, श्मशान जगाकर उसकी सिद्धि को सुन्दर अलंकारिक रूप से दिखलाया है ।

अर्थ—साहसी हनुमान ने लंक-सिद्ध पीठ को देख कर समुद्र को छुलौंग कर रात्रि में वहाँ श्मशान जागरण किया । उसके इस महा साहस को देखकर सीता सहशी देवी प्रसन्न हुई और उन्होंने मानो एक बरदान दे दिया । (बरदान पाकर) उसने वाटिका को उजाड़ दिया, अक्षय की सेना को मार डाला और गढ़ को जला दिया । और श्रीरामचन्द्र जी के यश रूपी सूर्य के समान वह चमकने लगा ।

इस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर आते हुए हनुमान को देख कर जामवंत कह रहे हैं कि (श्मशान जागरण की उस रात्रि के बीत जाने पर) वह सूर्य अब संसार रूपी कमल और बानर समूह रूपी चकवाओं को (संयोग द्वारा) शोक रहित (हर्षित) करता हुआ, हनुमान् वह आया, वह आ गया ।

अलंकार (१) उपमा—सारे छंद में है ।

(२) अनुप्रास—“साहसी समीर सूनू” आदि में ।

(३) यमक—“उजारि जारि” “शोक नद कोक” ।

(४) लाटानुप्रास—भानु कुल भानु प्रताप भानु में ।

सिद्धपीठ—बौद्ध धर्म के विकार स्वरूप जब योगियों और सिद्धों का ताँता देश में लग गया तो उन्होंने अपनी गहिर्याँ बनाई । सिद्धि प्राप्त करने के लिए कोई स्थान विशेष अञ्छा समझा जाता था उसे सिद्ध पीठ कहते थे; लंका, सिंहल आदि ऐसे ही स्थान थे । प्रायः वे स्थान जहाँ पर कोई

भौतिक आकर्षण होता था, सिद्धिपीठ होते थे, लंका में स्वर्ण की अधिकता, और सिंहल में पद्मिनियों की अधिकता थी।

श्मशान जगाना—रात्रि में श्मशान में जाकर किसी शव के ऊपर बैठ कर किसी देवी, देवता को प्रसन्न करने की क्रिया; जो सिद्धों और वाम-मार्गियों में प्रचलित थी। आज भी भूत-प्रेत, तंत्र-मन्त्रों की सिद्धि इस प्रकार की जाती है।

लंकाकांड

१—(१) सुबाजि = सुन्दर-सुन्दर घोड़े। धरनीधर = शेष।

(४) उनको रण रूपी तीर्थ में लक्ष्मण ने उसी प्रकार दबा कर नष्ट कर दिया जिस प्रकार कोई लाख दान करने वाला दरिद्र को दबा कर नष्ट कर देता है।

लक्ष्मण को लाखन-दान माना गया।

२—(१) बिटप = पेड़। भूधर = पर्वत।

(४) बादल के समान गरजते हुए वीर सेना के समूह को नष्ट करने लगे।

३—(१) सेली = सेला (सिर पर बाँधने का साफा)।

(२) मुटुंग = समूह। खोरि के = स्नान करने के लिए।

(३) शीनित = रक्त। वर्णन की वीभत्सता देखिए।

(४) हाथ-हाथ जोरि कै = हाथ में हाथ डाल कर नाच रहे हैं।

४—(२) कपि = सुग्रीव।

(३) तुलना कीजिए :—

“मेरो सब पुरुषारथ थाको।

बिपति बंटावन-बन्धु-बाहु बिन करो भरोसो काको।

सुनु सुग्रीव साँचेहु मो पर फेरयौ बदन विधाता।

ऐसे समय समर संकट हैं तब्यो लछन सो भ्राता।

गिरि-कानन जै हैं साखा-मृग हों पुनि अनुज-संघाती।

है कहा विभीषन की गति रही सोच भरि छाती।”

(गीतावली)

उत्तरकांड

१—(२) दाशरथी = राम । दसकधर = रावण ।

(३) राम के स्वभाव को सुन कर हम जैसे आलसी और वातून भी प्रसन्न होते हैं ।

(४) जो लोग कायर, क्रूर, कुपूतों में भी एक नम्बर के थे उनका भी अशरण-शरण भगवान् ने उद्धार कर दिया ।

३—(२) जिस देवताओं के सिरमौर (अग्रणी) भगवान् की कमला चंचलता तज कर निरन्तर सेवा करती रहती है ।

५—(१) श्रेष्ठ भारत भूमि में जन्म, उच्च ब्राह्मण कुल में जन्म, मानव शरीर और साधुओं की अच्छी संगति को प्राप्त करके ।

८—(१-२) जो भूखा-प्यासा रोटियों के लिए भी औरों के सामने हाथ पसारा करता था जिसके घर में झोली और खुरपी के अतिरिक्त और कुछ भी न था उसको मरु के समान सोने का ढेर मिल गया तो भी, घर भर जाने पर भी उसका मन न भरा ।

९—(४) भगवान् में अनन्य भक्ति रहे यही याचना है ।

१०—(४) मैं तो महा पतित था आपके नाम ने मुझे मान्य बना दिया ।

११—(२) इस बात को विश्व (जहान) जानता है और मुझे भी इस बात का बड़ा घमंड है कि मैंने न तो कभी किसी दूसरे को माना, न अब मानता हूँ, न भविष्य में ही मानूँगा ।

अनन्यता की दृढ़ता देखिए । मिलाइए :—

“एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास ।

स्वाति सलिल रघुनाथ जस, चातक-तुलसीदास ।”

(४) जैसी बातें मैं मुख से कहता हूँ वैसा ही हृदय में समझूँगा ।
अर्थात् मनसा और वाचा जब मैं आपका अनन्य सेवक हो जाऊँगा ।

१३—(१) मैं ब्राह्मण (मंगन) कुल में उत्पन्न हुआ, मेरे जन्मोत्सव अवधावा सुनकर माता-पिता को बड़ा दुःख हुआ ।

यह पद आत्म कथा मूलक है । (देखिए “जीवन चरित”)

१४—(१) गोरखनाथ ने लोगों को योग (का नाम) सिखाकर उनको उदंड बना दिया, वे भगवद् भक्ति नहीं करते; जो वेदशास्त्रानुमत मार्ग था वह अनायास ही इस प्रकार नष्ट कर दिया गया ।

उस समय की धार्मिक दशा का वर्णन है ।

१५—(२) साल = शालि (धान) । सकेलि = इकट्ठा करके ।

(३) कलपद्रुम काटत मूसर को = एक नितान्त साधारण काम करने के लिए एक अपूर्व वस्तु को बिगाड़ देना ।

१८—(२) सरनाम = प्रसिद्ध ।

यह भी आत्मकथा मूलक है । पहिले ही पहिले लोगों ने काशी में गोस्वामी को टिकने न दिया वे उनकी हँसी उड़ाते थे और उनकी उलटी-सीधी बातें उड़ाते थे । दूसरी पंक्ति में कितनी सुंक्कलाहट प्रकट हो रही है ।

१६—(४) मुझे साधु कहो या असाधु; भला कहो या बुरा; मुझे सोच ही क्या है, मुझसे किसी के घर (बेझर तुलाने) थोड़े ही जाना है । मैं जो हूँ सो तो हूँ ही और राम का ही हूँ जैसा भी खोटा-खरा ।

कितना सन्तोष और क्षोभ है । यह भी आत्म कथा मूलक ही है ।

२०—कनक कुंघर = मेह (कनक = स्वर्ण) । कु + धर = पहाड़) केदार = खेत या क्षारी । सुर-मनि = चिता मणि ।

(२) कामधुक् = काम (इच्छाओं) को देने वाली ।

(६) तीर्थरति = प्रयाग (तीर्थराज) ; यच्छेस = कुबेर (यक्षों का राजा)

(५) कैवल्य = मोक्ष ।

२१—(२) तरजी = उसे रोका ।

(४) अनग (काम देव) हमारे प्राण का लेने वाला हो गया है । गरजी = याचक ।

(३) प्रेम के आघात से यह देह उस कपड़े के समान हो गई है जिसका कतर-व्योत (नष्ट भ्रष्ट) विरह रूपी दरजी कर रहा है । ये ३ छंद कृष्ण चरित से संबद्ध रखते हैं और इस बात के समर्थक हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ मुक्तक के रूप में लिखा गया था प्रबन्ध काव्य के रूप में नहीं । (दे० भूमिका) ।

२२—(१) हे भ्रमर ! क्या तुझे मनोहर श्याम ने कुबरी जैसी (विक-

लागिनी) बाला के खास (व्यक्तिगत personal) नौकरी में से छूँटकर हमारे पास भेजा है (तुम सन्देश तो “मनोहर श्याम” का लेकर आये थे किन्तु करने लगे कुब्जा की सी वकालत जान पड़ता है तुम उसके खास नमक हलाल सेवक हो । (“छवीले कान्हू” और “कूबरी बाल” पदों पर कैसा व्यंग्य है) ।

२—“बाल की खाल निकालना” प्रसिद्ध मुहाविरा है ।

४—योग का योग (उचित समय) हो गया । कृष्ण का वियोग ही ऐसा उपयुक्त समय है जब योग साधना का उपदेश दिया जा सके ।

“जोग जोग” मे यमक है ।

२५—यह पद भी गंगाजी की स्तुति का होने के कारण प्रसंग विरुद्ध है ।
आगे के २ छन्द भी देखिये । गम-नाहि = अगम ।

२६—तुम्हारे जल के दर्शन करने पर मैं भगवत्पद प्राप्त कर लूँगा और विष्णु हो जाऊँगा किन्तु तुम विष्णु के पद नख से निकलतो हो, विष्णु होकर मुझे तुमको अपने पद से छूना पड़ेगा इसलिए मैं विष्णु बनना नहीं चाहता, क्यों कि नहीं तो मुझ पर पाप पड़ेगा । यदि मैं तुमको सिर पर धारण करूँ तो यह भी दोष है कि मैं शिवकी बराबरी करने लगा क्योंकि शिवजी ने तुमको अपने सिर पर धारण किया था ।

तुलना कीजिए—

“अच्युत-चरन-तरंगिनी, शिव-सिर मालति-माल ।

हरि न बनायौ सुरसरी, कीजौ इन्दव भाल ।”

—रहीम

२७—(१) खाँगो = कमी । नाकप = इन्द्र (नाक = स्वर्ग का पालक) ।

स्वयं तो नंगा फिरता है किन्तु दूसरों को माँगता देखकर कहता है कि चिन्ता मत करो; कोई कमी नहीं है जितना चाहो माँगो । यदि संसार के याचक इकठे हो जायँ तो भी रीझकर उनको रंक से एकदम इन्द्र बना दे । मैं तो स्वर्ग को सम्हालता हुआ तंग आ गया और ये पिनाकी (शिव) तनिक भी अहसान नहीं मानता ।

तुलना कीजिए :—

बाबरो राबरो नाह, भवानी ।

दानि बड़ो दिन, देत दये बिनु; वेद-बढ़ाई भानी ।

×

×

×

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी मुख की नहीं निशानी ।

दिन रंजन को नाक संवारत, हौं आयो नकवानी ।

×

×

×

यह अधिकार सौँगिए औरहिं भीख भली मैं जानी ।

प्रेम-प्रसंसा-विनय-व्यग ज्ञान सुनि विधि की वर वानी ।

तुलसी मुदित महेश मनहि मन जगतमातु सुसकानां ॥”

—विनय पत्रिका

२८ - (१) कोढ़ मे खाजु—दुःखों पर और भी दुःख आना ।

(२) सीधमान = दुःखी : पाप-पीन = बड़े पाप (पीन = मंटा) ।

इस पद मे भी उस समय की दशा का वर्णन हे । (दे० भूमिका) ।

दोहावली

(चातक चौतीसी)

तुलसीदासजी कहते हैं कि मेरी सम्झ में तो चातक स्वाति नक्षत्र का भी जल नहीं पीता, क्योंकि यदि वह पी लेगा तो उसकी प्रेम की प्यास कम हो जायगी । यह ठीक नहीं । प्रेम की प्यास का बढ़ना ही अच्छा है, यदि यह घटेगी (पान करने से तो घटती ही है) तो इसके घटने से मर्यादा भी घट जावेगी ।

तृषा = प्यास । आनि = आन (मर्यादा) ।

चातक यह नहीं चाहता कि उसकी प्यास बुझ जावे, वह तो केवल प्रेम का भिखारी है; प्यास का बुझाना तो केवल बहाना मात्र है ।

(४) लटी = दुर्बल होगई । तृषा = प्यास ।

(६) अपने आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए मांगना और अपने प्रिय से नित्य नया स्नेह करना—ये बातें उस समय अच्छी लगती हैं जब चातक के मार्ग का अनुसरण किया जावे । चातक सर्वदा आत्मसम्मान का ध्यान रखता

है जिस प्रिय से माँगता है उसके अनिच्छित कोई दूसरा उसकी आँखों में चढ़ता ही नहीं वह भिखारी होता हुआ भी दीन नहीं है । इस याचना में भी प्रिय के लिए स्नेह भरा पड़ा है माँगना तो बढ़ाना मात्र है, वास्तविक वस्तु तो स्नेह है । स्नेह के लिए ही वह (मानो जान-बुझकर करने के लिए) उससे माँगता है ।

प्रेम की कैसी अनन्यता और स्वार्थ हीनता है, जिसमें आत्मसम्मान और मर्यादा सदा रहती ही है ।

(११) तुलसीदास कहते हैं कि आदर्श याचक संसार में एक है चातक और आदर्श दानी भी संसार में एक ही मेघ । दानी इतना देता है कि देते देते सारी पृथ्वी (जल से) भर जाती है, किन्तु याचक कितना लेता है कुछ घूँट ।

उसकी याचना में जगत का प्रतिनिधित्व है वह केवल अपने लिए ही नहीं माँगता—संसार की प्यास बुझाने के लिए ही उसकी प्यास है ।

१३—(२) संसार में यह देखा जाता है कि याचक संसार का एहसानमंद रहता है, किन्तु इस याचक ने दानी को अहसानमंद कर दिया; यही विचित्रता है । मेघ का यह सौभाग्य है कि उसे चातक जैसा याचक मिल गया जो उसके यश का विश्व में विस्तार कर रहा है । वस्तुतः चातक के प्रेम ने मेघ को भी महत् पूर्ण बना दिया ।

(१४) चातक माँगता नहीं (वह तो अपने प्रण को निभाता है कि केवल स्वाति नक्षत्र का ही जल पीऊँगा, जलधर वह जल न देना चाहे न दे) फिर भी जब उसे अपनी अभीष्ट वस्तु मिल जाती है तो वह उसको इकठा करके नहीं रख लेता (वह एक दो घूँट पीता है शेष जल तो पृथ्वी पर बह जाता है), जब दान स्वीकार भी करता है तो शीश झुकाकर—अहसान मानकर, दीन बनकर—नहीं स्वीकार करता (ऊपर को चौंच करके मानो बड़े अभिमान से उसे स्वीकार करता है) । ऐसी अभिमानी चातक को बादल के अनिच्छित और कौन दे सकता है ।

“सीध नाह” के दोनों अर्थों पर ध्यान दीजिए ।

१५—चातक अपने प्रेम के सभी सम्भव साधन करता है और इस मार्ग की जितनी कठिनाइयाँ और कष्ट हैं उन सब को सहता है (ओले बरसना

आदि कष्ट सहन करना) । और तब उसे ऐसे फलकी प्राप्ति होती है जो सब को (सारे विश्व को केवल चातक को ही नहीं) लाभदायक है । चातक की इस याचना को केवल कुछ बुद्धिमान ही समझते हैं ।

सँसति = कष्ट = जैसे—

“उपल बरषि, गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।

चितव कि चातक मेघ ताजि, कसहुँ दूसरी ओर ॥”

लाडू = लाभ । सर्वाह सुखद = सारे विश्व को सुख देनेवाला; जैसे—

“तुलसी चातक माँगनो, एक एक घन दानि ।

देत जो भूभाजक भरत, लेन जो घूँटक प्रानि ॥”

१७—(२) चातक का प्रेम और विश्वास (प्रतीत) अलख है । इसे हम देख (जान) नहीं सकते ।

१६—पोषरिन = पोखर (पुष्कर) = तालाब ।

२२—(१) पयद = बादल (पय = जल + देने वाला)

बादल की सीख (उसके व्यवहार से शिक्षा) यही है कि प्रेम की जाँच कठोरता से नहीं होती । यदि किसी व्यक्ति का व्यवहार कठोर है तो यह न समझ लेना चाहिए कि वह प्रेम नहीं करता, कठोर व्यवहार केवल परीक्षा के लिए है यदि उसमें सफल हो जावोगे तो प्रेम की मात्रा भी बढ़ जावेगी । मेघ की कठोरता इसलिए नहीं कि वह चातक के प्रेम से प्रभावित हो कर उत्तर में उसको प्रेम नहीं करता प्रत्युत यह तो चातक के प्रेम को अधिक बढ़ बनाने के लिए है ।

२३—जो यह कहता है कि पपीहा पापी है नहीं तो जलधर अवश्य उस पर कृपा करता, समझने में भूल करता है । वस्तुतः न पपीहा पापी है और न जीवन दाता (जलधर या जीवनाधार प्रिय) मूर्ख ही है जो प्रेम को न समझता हो । किन्तु प्रेम का मार्ग ही रहस्यमय है, प्रह्लाद के उदाहरण से इसको समझ लेना चाहिए कि आपत्तियों को सहे बिना प्रेम में हड़ता नहीं आती; इसलिये कठिनाइयों का आना प्रेम का वाधक नहीं साधक है ।

२४—पृथुभी = पृथ्वी । नेम = नियम (केवल स्वाति नक्षत्र के जल का ही स्पर्श) ।

२६—पुण्यजल = गंगाजल। खोच = कपड़े में सोल पड़ जाना।

(२) चातक के प्रेम रूपी वस्त्र में मरते समय भी खोच न पड़ा; वह प्रेम सर्वदा निर्दोष ही रहा; चातक ने अपनी चोंच से कभी गंगाजल का भी स्पर्श न किया।

रूपक अलंकार

२७—चातक ने अपने अण्डे में से ही बच्चे को निकाला और उस अण्डे के टुकड़े (छिलके) को जल में पड़ा देखकर (तुरन्त ही) उस पानी से बाहर निकाल फेंका। वह यह नहीं चाहता कि उसके यहाँ की कोई भी वस्तु अशुद्ध (स्वाति नक्षत्र के अतिरिक्त) जल में पड़े—अण्डे का छिलका तक अन्य जल में गिरकर अपवित्र हो जाता है।

३०—चारिड मास (अन्य जलपान परिहरि) स्वाति जल अँचवें की जो (प्यास) (सो) पपीहाइ प्रेम की प्यास।

पपीहा भरे हुए चौमासे में भी अन्य जल का पान नहीं करता उसको तो जो प्यास होती है वह केवल प्रेम की होती है जलपान की नहीं।

चारिड मास = चातुर्मास्य = वर्षाकाल के चारों महीने।

४४—ऊख = ऊष्म = तापतप्त। रूख = वृक्ष।

अनजल = स्वाति के अतिरिक्त और जल।

यद्यपि गर्मी के दिन ये मार्ग में चलन के कारण शरीर खिन्न हो रहा था फिर भी चातक ने अन्य पक्षियों का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह अन्य जल से सींचे गये वृक्ष की छाया में बैठ कर ताप न मिटाना चाहता था।

३३—चातक के प्रेम की यह विशेषता होती है कि वह रात दिन एकांगी स्नेह करता है (प्रेम के बदले में प्रेम नहीं चाहता उसका प्रेम अपनी ओर से होने के कारण एकांगी है)। वस्तुतः जिससे हमारा प्रेम हो वही हमारे लिए सब कुछ हो जाता है।

बरबै रामायण

बालकांड

१—हे सखि ! जब मैं मोतियों को अपने केशों में गूँथती हूँ तो वे नीलमणि के समान (केशों की श्यामता के कारण) हो जाते हैं । किन्तु जब मैं (देखने के लिए) अपने हाथों में लेती हूँ तो वे (हाथों के रूप के कारण) फिर मुत्ता बनकर शोभा बढ़ाते हैं ।

२—हे सखि ! कनक और सीता के अंग समान रंगवाले हैं, समान शोभा वाले हैं, और समान सुख देने वाले हैं, अन्तर केवल इतना है कि सीता के अंग कोमल और कनक कठोर होता है (यही सीता के अंगों से तुलना में कनक की हीनता है) ।

४—सीता का रंग भी चम्पा के रंग के समान है । इसलिए जब वे हृदय पर चम्पा का हार पहिनती है तो दिखाई नहीं पड़ता; फिर जान कब पड़ता है कि वे हार पहिने हुए हैं ? उस समय जब हार मुरझा जाता है । क्योंकि अंगों की काँति तो सर्वदा वैसी ही रहती है, हार कुम्हलाकर काँतिहीन हो जाता है ।

५—(२) बेला का (श्वेत रंग का) हार जब मैं पहिनाती हूँ तो वह चंपा का (सुनहरी रंग का) हो जाता है ।

७—राम के मस्तक पर जो तिलक है वह बाण के समान है, उनकी भौंहें धनुष के समान है इस प्रकार यह मुख केवल चन्द्र के समान है ।

(८)—प्रभु के मुख पर मृदुल मुसकान है और आँखों में टेढ़ी चितवन है (कमल के पास ये वार्ते नहीं होती) इसलिए मैं प्रभु के नयनों की उपमा कमल से नहीं दे सकता—कमल हीन है ।

११—यह छंद उस अवसर का है जब राम सीता स्वयम्बर में जनकपुर गये थे:—

नित्य कर्मों के उपरान्त जब सूर्य (राम) का उदय हुआ तो उसे देखकर चन्द्ररूपी राजाओं के मुख फीके पड़ गये ।

प्रथम पंक्ति में रूपका रूपकातिशयोक्ति और द्वितीय में रूपक अलंकार है ।

१२—हे सजनी मुझे शिवजी के वरदान में बड़ा सन्देह है कि जो धनुष कच्छप की पीठ से भी काँठन है उसे ये राम उत्साह पूर्वक तोड़ डालेंगे ।

१३—घनुष को तोड़ कर राम ने सब के दुःख को हर लिया ।

१४—राम कहते हैं—हे सखियों तुम सीता के मुख को घूँघट से क्या मूँद रही हो (देखने नहीं देती) (यह कोई अद्वितीय वस्तु नहीं है) इस ही के समान चन्द्रमा आकाश में सुशोभित है (और उस पर कोई पर्दा नहीं है, उसे देखकर सब कोई अपनी आँखों को सफल बना सकता है) ।

सरग = म्वर्ग (आकाश) । अनुहारि = समान ।

१५—सखियाँ राम से कह रही हैं—

हे रघुनन्दन ! तुम अपने मन में अपनी सुन्दरता पर झूठा अभिमान मत करो (क्यों अपने को व्यर्थ धोका देते हो) तुम्हारी मूर्ति (रूप) तो ऐसा है जैसे सीता की परछाईं । अर्थात् सीता की सुन्दरता के सामने तुम्हारी सुन्दरता तो कुछ भी नहीं ।

१६—विवाह के अनंतर निशाकाल में सखियाँ सीता और राम के पास बैठी हैं, वे सीता को राम से एकांत में मिलने का अवसर देने के लिए उठ-उठकर जा रही हैं:—

सखी हँसकर के किसी बहाने से यह मधुर शब्द कहती हुई उठकर चली गई, कि सीता और राम की आँखों में नींद आ रही है (अब हफ़्ते भर चलें, बेचारी को सोने दो) ।

यह छंद तुलसी का लिखा नहीं प्रतीत होता क्योंकि जिस शृंगार की इसमें व्यञ्जना है वह रीतिकाल के कवियों का सा है तुलसी अपने इष्टदेव के विषय में ऐसा न लिख सकते थे ।

आयोष्याकांड

१८—राउर = आपका

राम और लक्ष्मण को बन जाते देखकर मार्ग के स्त्री पुरुष उनके विषय में भिन्न-भिन्न बातें सोचते हैं ।

कोई तो यह कहता है कि ये नर और नायायण' कोई कहता है विष्णु और शिव हैं और कोई कहता है ये कामदेव और वसंत हैं ।

मिलाइए.—

“की तुम तीन देव मँहँ कोउ ।

नर-नारायण की तुम दोऊ ॥”

(मानस)

मानहुँ रति-श्रुतनाथ सहित मुनि वेष बनाए, हैं मैं—गीतावली ।

नोट—यहाँ सीता का भी वर्णन होना चाहिए, नहीं तो यह छंद इस स्थल का न माना जावेगा ।

२२—निषाद पानी का कठौता ले आया और बोला विवाद मत करो पैर धोकर नाव मैं चढ़ो ।

कितना अनम्र व्यवहार है । रामचरित मानस से इसकी तुलना कीजिए; वहाँ राम की आज्ञा पाकर वह कठौता लाया है :—

“केवट राम-रजायसु पावा ।

पानि कठौता भरि लेइ आवा ॥”

२४—राम का रूप परम सुन्दर है ये दो भुजावाले विष्णु हैं (विष्णु के चार भुजाएँ होती हैं न) और लक्ष्मण एक जीभवाले साक्षात् शेष नाग हैं (शेष नाग के २००० जीभें होती हैं) ।

अर्थात् राम और विष्णु में केवल अंतर इतना ही है कि इनके दो भुजाएँ हैं और उनके चार, तथा लक्ष्मण और शेष में इतना ही अंतर है कि इनके एक जीभ है उनके २००० ।

अरण्यकांड

२६—कनकलता के समान सुन्दर रूपवाली सीता ने राम को वह कनकमृग (मारीच) दिखला दिया ।

२७—कनखियनु = आँखों के कोने

“कनखियनु आँखियनु” में यमक अलंकार है ।

३०—सीता के विरह में राम को चन्द्र की ज्योत्स्ना अमिताप के समान जल पड़ती है ।

सुन्दरकांड

३५—हे हनुमान्, अब मेरे जीवन की कोई आशा शेष नहीं रह गई, क्योंकि (राम के विरह में मैं इतनी दुर्बल होगई कि) मेरी अँगुली की अँगूठी अब मेरे पहुँचे में आजाती है—वह कंकण बन गई है ।

विरह में शरीर कितना दुर्भल हो गया है; कहाँ अँगुली और कहाँ हाथ का पहुँचा ।

१८—सीता की विरह दशा हनुमान् राम को बतलाते हैं:—

जब चारों ओर शब्द चन्द्र की ज्योत्स्ना छाई होती है (तो सीता उसको धूप समझती हैं) और चन्द्र को सूर्य (रघुकुल का गुरु) समझ कर (अपने कष्टों का) निवेदन करती हैं ।

३६—राम परम ऐश्वर्य शाली है उनको समुद्र के समान कैसे कहा जा सकता है । समुद्र भी अनेक नदियों (वाहिनी) के साथ विलास करता है और राम भी अनेक सेनाओं (वाहिनी) से युक्त हैं । समुद्र के भीतर शेषनाग (अनंत) है और राम के हितैषी (सहित) भी लक्ष्मण (अनंत शेषनाग के अवतार) है फिर भी राम का ऐश्वर्य समुद्र से बढ़कर है ।

विलास = विलास करता है; मुशोभित है ।

सहित = युक्त; स + हित = हितैषी ।

भगवन्त = ऐश्वर्यवान् ।

कुछ संभाव्य प्रश्न

१—“गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने समय तक की प्रचलित सभी काव्य शैलियों पर रचनाएँ की हैं और उन सब के ऊपर हम उनका पूर्ण अधिकार पाते हैं ।”

इस कथन का समाधान कीजिए । (बी० ए० ४६)

(देखिए—दूसरे अध्याय में “साहित्यिक समन्वय—शैलियाँ”)

२—“भावुकता की दृष्टि से तुलसी और जायसी की तुलना कीजिए ।”

(बी० ए० ४६)

(देखिये चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत “तुलसी और जायसी”)

३—“तुलसी की कवितावली में बड़ी ही सुन्दर रसानुगुण भाषा का प्रयोग हुआ है—कवितावली के छन्दों से उद्धारण देते हुए इस कथन को स्पष्ट कीजिए ।

(बी० ए० ४६)

(देखिए—पंचम अध्याय के अन्तर्गत “भाषा”)

४—तुलसी और सूर की कवित्व शक्ति की तुलनात्मक विवेचना कीजिए ।

तुलना में काव्य के आभ्यन्तर तथा बाह्य दोनों पक्षों का पूर्ण विवेचन होना चाहिए ।

(बी० ए० ४६)

(देखिये—चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत “तुलसी और सूर”)

५—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए बतलाइए कि “कवितावली” और “गीतावली” को किस काव्य भेद में रखा जाना चाहिए । (एम० ए० ४६)

(देखिए—दूसरे अध्याय का “कवितावली” “गीतावली” तथा पंचम अध्याय का “मुक्तककाव्य” शीर्षक)

६—भावुकता की दृष्टि से तुलसी और सूर की तुलना कीजिए ।

(देखिए—चतुर्थ अध्याय में “तुलसी और सूर”)

७—तुलसी-काव्य के कलादृष्ट की समीक्षा उद्धरण देते हुए कीजिए ।

(देखिये—पंचम अध्याय में “भाषा”, “अलंकार” तथा “वर्णन”)

८—तुलसी और मैथिलीशरण गुप्त के कवित्व पर प्रकाश डालते हुए लिखिए कि किसकी कविता सामाजिक जीवन के अधिक मेल में है ।

(बी० ए० ४२)

(देखिए—चतुर्थ अध्याय में “तुलसी और गुप्तजी” तथा तृतीय अध्याय में “सामाजिक समन्वय”)

९—“वस्तु-साध्य होते हुए भी तुलसी की विभिन्न रचनाओं में उसके प्रत्यक्ष-करण एवं निर्वाह में अन्तर है” इस वाक्य की व्याख्या कीजिए तथा “गीतावली” और “कवितावली” के उद्धरणों द्वारा अन्तर निर्देश करते हुए लिखिए कि इस प्रकार का अन्तर क्यों हो गया । (बी० ए० ४३)

(देखिए—दूसरे अध्याय का “कवितावली”, “गीतावली” तीसरे अध्याय का “भाषा” तथा शैलियाँ)

१०—“विनयपत्रिका में तुलसी का दैन्य परम उज्ज्वल रूप में उपलब्ध होता है । विनयपत्रिका के पदों के आधार पर इस मत की पुष्टि करते हुए लिखिये कि तुलसी के इस दैन्य में सामाजिक मानव हृदय की कितनी झाँकी है ?” (बी० ए० ४२)

(देखिए—दूसरे अध्याय का “विनयपत्रिका”, तथा पंचम अध्याय का “चातक प्रेम”)

११—“कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उनके अनुरूप भाव का अनुभव करे ।”

इस कथन को ध्यान में रखते हुए तुलसी की भावुकता का विवेचन कीजिए । (बी० ए० ४४)

(१०—पंचम अध्याय का “मुक्तककाव्य”, चतुर्थ अध्याय का “तुलसी और सूर”)

१२—“गीतावली” के मधुर पदों में हृदय के विविध भावों की बड़ी ही मार्मिक व्यञ्जना हुई है ।

इस कथन को अवतरण देते हुए स्पष्ट कीजिए । (बी० ए० ४४)

(दे०—दूसरे अध्याय का “गीतावली”)

११—“कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला ।” (हरिऔध)

इस पंक्ति के औचित्य को प्रमाणित कीजिए । (बी० ए० ४७)

(दे०—पंचम अध्याय में “भाषा”, “अलंकार”, “वर्णन”)

१४—सिद्ध कीजिए कि गोस्वामी तुलसीदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी है ।

(बी० ए० ४७)

(देखिए तीसरा अध्याय विशेषतः “साहित्यिक समन्वय”)

